आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों में मोक्ष चिन्तन के तात्त्विक विकास का समीक्षात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि (संस्कृत) के लिए
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

वर्ष- २००६

निर्देशक-
डॉ. शिवराम सिंह गौर
प्राचार्य
श्री हरसहाय जगदम्बा सहाय कालिज
कानपुर

शोधार्थी-
श्रीमती सुशीला त्रिपाठी
श्री शान्ति निकेतन धनुषधारी मन्दिर परिसर
परवारीपुरा, मऊरानीपुर (झाँसी)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती सुशीला त्रिपाठी ने 'आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों में मोक्ष चिन्तन के तात्त्विक विकास का समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक से मेरे निर्देशन में यथा समय रहकर शोध कार्य सम्पन्न किया है।

इनका यह कार्य इनके मौलिक दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। मैं इनके इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने की अनुमति के साथ इनके सफल जीवन की कामना करता हूँ।

अगस्त-२००६

निर्देशक-
डॉ. शिवराम सिंह गौर
प्राचार्य
श्री हरसहाय जगदम्बा सहाय कालिज
कानपुर

आमुख

सृष्टि की संरचना का स्वरूप किसी भी तरह से अब तक किसी की समझ में नहीं आया। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार किये जाते रहें और सभी के द्वारा किसी न किसी प्रकार का निष्कर्ष भी दिया जाता रहा है। कोई भी इद्मित्थम् रूप में निष्कर्ष देने में सक्षम नहीं रहा।

यही स्थिति इस पृथ्वी पर जन्म लेने वाले मनुष्य की भी है, इसका जन्म क्यों हुआ है? यह कहाँ से आया है? इसे कहाँ जाना है? इसके जीवन का क्या उद्देश्य है? इस प्रकार की जिज्ञासायें सहज रूप में उत्पन्न होती रहीं हैं, और इन जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिये जो निष्कर्ष दिये गये हैं, उनमें यह कहा गया है कि मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थ प्राप्तव्य हैं। उसे अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करनी है तभी वह सार्थक होगा।

मैंने अध्ययन काल में पुरुषार्थों के विषय में जाना और इनमें से धर्म, अर्थ, काम की प्रत्यक्षता देखी। मोक्ष के विषय में यह जिज्ञासा हुई कि इसका स्वरूप कैसा हो सकता है इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए मैंने अनुसंधान के लिए यह विषय चुना और विविध दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में मुक्ति स्वरूप का प्रतिपादन किया।

मेरी उच्च शिक्षा के प्रेरणा स्रोत धर्माचार्य श्री १००८ श्री परम श्रद्धेय जगद्गुरु रामानन्दाचार्य बुन्देलखण्ड पीठाधीश्वर बाबा रामदास जी ब्रह्मचारी एवं श्रद्धेय डॉ. गदाधर त्रिपाठी, विभागाध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर हैं। ये मेरे गुरु रहे हैं जिन्होंने अपनी असीम कृपा मुझ पर की और अमृतरूपी ज्ञान की वर्षा करके मेरे जीवन को उज्ज्वल बनाने का पूर्ण प्रयास किया। मैं उनकी कृतज्ञ होकर उनका हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। डॉ० शिवराम सिंह गौर के निर्देशन में यह कार्य हुआ। मैं इनकी ऋणी हूँ। अन्य गुरु जनों में डॉ. एस.के. कपूर, प्राचार्य-श्री अग्रसेन महाविद्यालय, डॉ. जे.एस. सोमवंशी, अंग्रेजी विभागाध्यक्ष, एवं डॉ. उदय त्रिपाठी हिन्दी-विभागाध्यक्ष हैं, इनसे प्रेरणा प्राप्तकर मैंने संस्कृत विषय में मानव जीवन की चर्मोत्कर्ष अभिलाषा 'मोक्ष' पुरुषार्थ का चिन्तन करते हुए अपने अनुसंधान कार्य को पूरा किया है। मैं इनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करती हूँ।

इस महत्वपूर्ण कार्य में मेरी जीवन दात्री माँ श्रीमती विमलादेवी एवं पिता के साथ-साथ मेरे स्वजनों के असीम सहयोग एवं सम्बल से परिवारिक दायित्वों का निर्वाहन करते हुए मैंने यह शोध कार्य सम्पन्न किया।

आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस शोध कार्य से मानव समाज को दिशा एवं मार्ग दर्शन प्राप्त होगा।

धन्यवाद!

आभार सहित-
सुशीला त्रिपाठी
श्रीमती सुशीला त्रिपाठी
मऊरानीपुर (झाँसी)

श्रावण पूर्णिमा सं.२०६३

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय-

द्वितीय अध्याय-

तृतीय अध्याय-

चतुर्थ अध्याय-

पंचम अध्याय-

संकेत सूची

१.	ई. उ.	-	ईश उपनिषद्
२.	क. उ.	-	कठोपनिषद्
३.	के. उ.	-	केन उपनिषद्
४.	छा. उ.	-	छान्दोग्य उपनिषद्
५.	त. वा.	-	तत्त्वार्थ वार्तिक
६.	त. सू.	-	तत्त्वाथ सूत्र
७.	न्या. सू.	-	न्याय सूत्र
८.	प्र. उ.	-	प्रश्न उपनिषद्
९.	बृह. उ.	-	वृहदारण्यक उपनिषद्
१०.	भ. गी.	-	भगवद्गीता
११.	भा.द.	-	भारतीय दर्शन
१२.	मु. उ.	-	मुण्डक उपनिषद्
१३.	यो. सू.	-	योग सूत्र
१४.	वे. पा. सौ.	-	वेदान्त पारिजात सौरभ
१५.	वै. सू.	-	वैशेषिक सूत्र
१६.	श्वे. उ.	-	श्वेताश्वतर उपनिषद्
१७.	सं. नि.	-	संयक्त निकाय
१८.	सां. का.	-	सांख्य कारिका

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

(१) दर्शन का अभिप्राय :-

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति द्रशिर् प्रेक्षणे (भ्वा.१०५७) धातु से इर् अनुबन्ध की इत्संज्ञा व लोप होकर दृश् धातु से करण अर्थ में 'करणाधिकरणयोश्च'[1] इस पाणिनीय सूत्र से करण अर्थ में ल्युट्प्रत्यय दृश्यते अनेन दृश्+ल्युट् ट् एवं ल् अनुबन्ध की इत्संज्ञा व लोप करके 'युवोरनाकौ' सूत्र द्वारा यु के स्थान पर 'अन्' आदेश तथा दृश् को अर् होकर (दर्शन) निष्पन्न होता है। जिसके द्वारा देखा जाए वह शाब्दिक व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ उपपन्न होता है। दृश् धातु का ज्ञान अर्थ भी होता है। इसलिए वार्तिककार कात्यायन के 'दृशेश्च' इस वार्तिक में सिद्धान्तकौमुदीकार ने कहा है कि 'गतिबुद्धि...' इत्यादि सूत्र में दृश् धातु का ज्ञानसामान्य अर्थ ही यहाँ गृहीत है न कि विशेष ज्ञान अर्थ उपादेय है। अतः दर्शन शब्द का ज्ञान विशेष अर्थ उपलब्ध होता है। जिसके द्वारा सूक्ष्म रूप देखा जाए वह दर्शन होता है। दर्शन या तो इन्द्रिय जन्य निरीक्षण हो सकता है अथवा विचार तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभूत हो सकता है।

सामान्यतः दर्शन का अभिप्राय तार्किक परीक्षण व सूक्ष्म निरीक्षण होता है। प्राचीन कालीन दार्शनिक ज्ञान अर्न्तदृष्टि परकथा। उसके बाद सम्भवतः इसका विकास इस रूप में मिलता है कि अन्तर्दृष्टि जन्य अनुभव की पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा की जाए। जैसे कि मूल उपनिषदों पर मध्यकालीन आचार्यों के भाष्यों में उपनिषदों के अनुभूति मूलक दर्शन को भाष्यकारों ने अनेक तार्किक प्रमाणों से समन्वित किया है।

---

1. 3/3/117 (पा.सू.)

दर्शन शास्त्र का उद्गम वेदों से हुआ। दर्शन शास्त्र मुख्यतः आत्मतत्त्व तथा ब्रह्म का स्वरूप सृष्टिविज्ञान, अन्तरिक्ष विज्ञान, जीव का स्वरूप तथा आध्यात्मिक एवं आधिदैविक तथा आधिभौतिक ज्ञान तथा मोक्ष का विवेचन करता है। इन सभी दर्शनशास्त्रीय विषयों की मौलिक विवेचना वेदों में उपलब्ध होती है। वैसे मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा जाता है- 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'[1] फिर भी वैदिक दर्शन तथा अध्यात्म तत्त्व को लेकर उपनिषद् ग्रन्थ ही दर्शन शास्त्र का मूल आधार स्रोत हैं। दर्शन शास्त्र के प्रत्येक सिद्धान्त में श्रुति के द्वारा ही प्रमाण के रूप में दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया है। अतः वेद ही दर्शन शास्त्र का प्रमुख आधार है। वैदिक ज्ञान के बिना कोई भी दार्शनिक प्रामाणिक विवेचन नहीं कर सकता। प्रत्येक दर्शन शास्त्रीय अध्येता को दार्शनिक सिद्धान्तों को वैदिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करना उपयुक्त होगा। धर्म की जिज्ञासा करने वालों के लिए श्रुति ही प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित मानी जाती है- धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।[2]

जो दर्शन वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं वे आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं और जो दर्शन वेदों में आस्था नहीं रखते हैं, वे नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त इन छह दर्शनों को वेदों का प्रामाण्य मानने से आस्तिक दर्शन कहा जाता है। बौद्ध, जैन तथा चार्वाक को वेदों का प्रामाण्य न स्वीकारने से 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है।

---

1. आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्-31
2. मनुस्मृतिः 2/13

भारतीय दर्शनों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भारतीय एवं वैदेशिक विद्वान् करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय दर्शनों ने मानव के मानसिक परिष्कार, उच्च चिन्तन, अज्ञानता की निवृत्ति एवं दुख तथा क्लेशों से मुक्ति प्रदान करने में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। दर्शनशास्त्र ने मानव जन्म की सार्थकता मोक्ष सिद्धान्त के प्रतिपादन से की है। मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। मानव की आपात विपत्तियों, मिथ्या धारणाओं तथा पारस्परिक संघर्ष के निवारण का मार्ग निश्चित तौर पर प्रशस्त्र किया है। मानव मस्तिष्क को चिन्तन् आत्मालोचन गहन आलोडन में दर्शनशास्त्र ने प्रवृत्त करके उसे कल्याणकारी मार्ग दिखाया है। साधना, तपस्या व योग की जटिल पद्धतियों का स्वरूप इसी शास्त्र के द्वारा उद्‌धाटित होता है। अतः दर्शनशास्त्र का महत्व काव्य, कला, इतिहास, राजनीति व अर्थशास्त्र आदि विषयों की अपेक्षा सर्वोपरि है।

दर्शनशास्त्र में परम तत्त्व परमात्मा को सर्वव्यापी सभी जीवों में आत्मतत्त्व के रूप में अवस्थित तथा गूढ़ एवं कर्मों का अधिष्ठाता तथा साक्षी चेतन तथा निर्गुण के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[1] वही परम तत्त्व कर्मों का द्रष्टा है तथा वही फलदाता है। कर्मों का फल मानव के अधीन नहीं है। मनुष्य को कर्म करने का अधिकार दर्शन शास्त्र ने दिया है क्योंकि वह परम तत्त्व का अंश है। उस परम तत्त्व का ज्ञान सांख्य एवं योग के ज्ञान के द्वारा ही होता है।

---

1. श्वेता. 6–11

भारत की 'दार्शनिक विचारधारा' ने विश्व के समस्त देशों को आत्मोत्थान, सादगी, सांस्कृतिक विकास, समानता, सह-अस्तित्व, विश्वबन्धुता, पारस्परिक आत्मीयता एवं शुभाचरण की भावना को अपनाने में विशेष योगदान दिया है। उपनिषदों ने मनुष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर किया है।

भारतीय विचारधारा ने दार्शनिक ज्ञान की चिन्तन धारा को सृष्टिकाल से अद्यावधि सतत रूप से प्रवाहित किया है। दर्शनशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो हमेशा विचार एवं चिन्तन की प्रक्रिया से आबद्ध है। कोई भी साधक या महापुरूष दर्शनशास्त्र के उच्च चिन्तन के बल पर ही समाज में उच्च स्तर प्राप्त कर सका। दर्शन बुद्धि की कसौटी पर जब खरा नहीं उतरता है तब तक वह किसी को लाभान्वित नहीं कर सकता। भारत में दर्शनशास्त्र विश्व के प्रथम ग्रन्थ ऋगवेद में 'को अद्धा वेद इह प्रवोचत् कुतः अजाता इयम् सृष्टिः' आदि प्राप्त होता हैं, अर्थात् यह संसार कहाँ से उत्पन्न हुआ, किसने उत्पन्न किया है, इत्यादिक दार्शनिक गम्भीर समस्याओं का चिन्तन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में विशद वर्णन के रूप में प्राप्त है। अन्य सभी विषय प्रेरणा और समर्थन के लिए दर्शन का आश्रय ही ढूढ़ते थे। भारत में यह प्रमुख विज्ञान है, जो अन्य विज्ञानों के लिए मार्गदर्शक हैं। प्लेटो का यह कथन है कि दर्शन, विज्ञान का विज्ञान है। यह प्लेटो की उक्ति भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में ही खरी उतरती है। भारतीय दर्शन में बिना तर्क ज्ञान के सभी दार्शनिक मान्यताएँ खोखली मानी जाती हैं। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म विद्या को अन्य सब विज्ञानों का आधार तथा सद् विज्ञान की प्रतिष्ठा के रूप में कहा है। कौटिल्य की मान्यता है कि आन्वीक्षिकी विद्या अर्थात् न्याय विद्या अन्य सभी विषयों के लिए प्रदीप का कार्य करती है, यह समस्त कार्यों का साधन और समस्त कर्तव्य कार्यों का मार्गदर्शक है।

महाभारत काल में षड्दर्शनों के अन्तिम दो दर्शन, ब्रह्मसूत्र और मीमांसा दर्शन का परिगणन हुआ था। इसके पश्चात् एक नास्तिक परम्परा जो कि चार्वाक आदि के नाम से प्रसिद्ध है भारत में पनपी थी उसके पर्याय अन्तराल के मध्यम नास्तिक धारा के दर्शन बौद्ध तथा जैन का प्रादुर्भाव हुआ था। इसलिए यूनानी दर्शन का भारत पर प्रभाव मानना नितान्त असंगत होता है। इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि जब पृथक् भूगोल में बैठे हुए सत्य के गवेषक मनीषी चिन्तन करते हैं तो कभी-कभी उनके सिद्धान्त इतने मिलते जुलते हैं कि जैसे एक दूसरे पर प्रभाव हो, भारतीय पुत्र शैली तो इतनी प्रसिद्ध है कि यूनान की दर्शन शैली उसके सामने कुछ भी नहीं है। भारतीय साहित्य का यह इतिहास है कि वह सर्वप्रथम काल में मन्त्रों के रूप में प्राप्त हुई, जिसमें वेदों और उपनिषदों को सम्मिलित किया जा सकता है। उसके पश्चात् षड्दर्शनों के रूप में सूत्र शैली का विकास क्रम माना जाता है। उसके पश्चात् महाकाव्य तथा उसके अनन्तर गद्य शैली का विकास हुआ है। इसलिए भारतीय दर्शन पर यूनान का कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता है।

भारतीय दर्शन का काल बहुत चिरकालीन माना जा सकता है। भारतीय दर्शन की धारा को द्वैतवादी और अद्वैतवादी (प्रत्ययवादी) धाराओं में विभक्त किया जा सकता है। सृष्टि के आदि में मानव मन के अन्दर इस बाह्य दृश्यमान जगत् को देखकर कौतूहल हुआ होगा और सम्भवतः इस कौतूहल को, किसी अव्यस्त विराट सत्ता का आभास भी दिया होगा। जिसके अनुसन्धान हेतु मानव मन आज भी विचलित देखा जाता है। किसी भी अव्यक्त परम सत्ता की खोज में

से पूर्व चित्त को इस जगत् का वैविध्य पूरित स्वरूप अपनी ओर आकर्षित करता है। अपने विविध उपादानों से उसके मानस का अपमान करता है, परन्तु बुद्धि-विस्तार के साथ-साथ एवं अनुभूत आधि व्याधियों के पश्चात् इस जगत् के प्रति यह आकर्षण की धारणा अवशिष्ट नहीं रह जाती। वे पूर्ण रूप में यहीं विश्राम कर एवं सन्तुष्ट होकर निवृत्त हो जाए, क्योंकि मानव-मन अनुभव के आधार पर बहुत शीघ्र जान लेता है कि यह भोगा जाता हुआ जगत् स्वयं में परमार्थ नहीं है। सुखों की स्थिति के साथ-साथ वेदनाओं का कोलाहल मानव के मन से उसके समस्त आकर्षण को प्रक्षालित कर देता है और मानव-मन फिर इस जगत् के पार किसी अक्षुण्ण आनन्दमयी सत्ता की कल्पना कर उसके अनुसन्धान एवं प्राप्ति हेतु व्यग्र हो उठता है। भारतीय मानव का दृष्टिकोण अपने आदिम काल से ही सम्भवतः इस व्यग्रता से उत्पीड़ित रहा है, यही कारण प्रतीत होता है कि हम अपने अतीत के क्षितिज पर भी आध्यात्मिक विचारों का रंग विखरा हुआ अवलोकित करते हैं।

दर्शन शास्त्र का अभिप्राय यह भी है कि मनुष्य केवल उस अव्यक्त विराट् सत्ता के विषय में भी शोध करता है और आत्म स्वरूप का इस बाह्य जगत् और इस अव्यक्त विराट सत्ता के साथ तादात्म्य का भी अनुसन्धान करने का प्रयास करता है, इन तीनों का समग्र विवेचन ही विभिन्न दर्शनों की पृष्ठभूमि में प्रतीत होता है।

दर्शनशास्त्र इस जगत् की व्यावहारिक कल्पना मात्र करता है। इसकी वास्तविक प्रतीति हमारे मानस या चित्त का विकार है या एक ठोस यर्थाथ है- आदि प्रश्न चिन्तक या दार्शनिक के सामने प्रथमतः उपस्थित होते हैं। वह इस जगत् की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि

यह जगत् आँसुओं का विमोचन स्थल मात्र नहीं है। जीव यहाँ रहकर विविध उपादानों से उस अव्यक्त परम सत्ता के अनुसन्धान और प्राप्ति के अनुष्ठान को सम्पन्न करता है। जगत् की उपेक्षा कथमपि नहीं की जा सकती है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग मीमांसा आदि दर्शनों में अनेक तत्व की मान्यता दी गई है तथापि वे तत्त्व जड़ और चेतन की दृष्टि से दो ही कोटियों में रखे जा सकते हैं, इसलिए उन्हें द्वैतवादी (यथार्थवादी) दर्शन माना जाता है। सांख्य दर्शन एक द्वैतवादी दर्शन है उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी माना जाता है। सांख्यदर्शन की दृष्टि प्रकृति और पुरूष के विविध रूपों की यर्थाथवादी धारा के अनुसार अभिव्यक्त करना है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से इस जगत् की अभिव्यक्ति होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है तथा पुरूष चेतन हैं।[1] दोनों ही स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं। सृष्टि के आदि में पुरूष की सन्निधि में प्रकृति के त्रिगुणों की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न होता हैऔर सृष्टि प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। कार्यकारण के घटनाक्रम में ये सत्कार्यवादी हैं। कार्य और कारण की अनन्यता को स्वीकारते हैं। प्रत्येक कार्य अपनी अभिव्यक्तिसे पूर्व अपने उपादान कारण में अन्तर्निहित करता है। ज्ञान-मीमांसा दृष्टि से इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय बुद्धि में पुरुष की छाया आपत्ति से अवलोकित होते हैं। बाह्य विषय अपनी स्वतन्त्र

---

1. सांख्यकारिका- (11 कारिका)

सत्ता रखते हैं। इसी तरह योग दर्शन भी बाह्‌य जगत् के विषय में सांख्य दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुसरण सा करता हुआ प्रतीत होता है।

आस्तिक दर्शनों में न्याय वैशेषिक दर्शन को पूर्णतः द्वैतवादी (यथार्थवादी) की मान्यता दी जाती है। इस दर्शन ने एकाधिक सत्ता को स्वीकार किया है। घट-पटादि का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। हमें उन वस्तुओं का ज्ञान हो या न हो तथापि अपना अस्तित्व है। उनके मतानुसार प्रत्येक प्रतीति या ज्ञान का एक विषय है। विषयी ज्ञान से पृथक् है। न्याय का यथार्थवाद एवं द्वैतवाद अनुभव एवं तर्क पर अवलम्ब्ति है। इसी तरह यथार्थवादी वैचारिकों में मीमांसा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि जैमिनी के मीमांसा सूत्र में कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या की गई है। विशेष दार्शनिक व्यवस्था है। मुख्यतः इनमें यज्ञों और कर्मकाण्डों की व्याख्या की गई है, फिर भी मीमांसा दर्शन के दो मेरुस्तम्भ प्रभाकर, कुमारिल भट्‌ट द्वैतवादी तथा यर्थाथवाद के प्रबल समर्थक थे। मीमांसा दर्शन में विशेषतः वैदिक परम्परा का निरूपण करते हुए वैदिक दर्शन का निबन्धन किया है। उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्यऔर उत्तरवर्ती मीमांसक आचार्यों ने अपने-अपने दर्शनकी महत्ता को भाष्यों एवं टीकाओं के माध्यम से शास्त्रार्थ-शैली में निरूपित किया है। इन भाष्यकारों के दार्शनिक साहित्य की संरचना हुई। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों ने द्वैतवाद एवं यर्थाथवाद के विरुद्ध आक्रमण करके सब कुछ क्षणिक जगत् की यथार्थ सत्ता को अस्वीकार कर दिया है। इसका मत था कि जगत् की बाह्‌य वस्तुएँ यर्थाथ में नहीं है। इनके विरुद्ध मीमांसकों ने यह सिद्ध किया कि जिन वस्तुओं का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा होता है, वे वस्तुएँ यर्थाथरूप में हैं, वे केवल प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। मीमांसकों के अनुसार हमें तीन प्रकार के पदार्थों का ज्ञान का होता है।

प्रथम भोगायतन शरीर अर्थात् जिसमें रहकर आत्मा सुख-दुख का अनुभव करता है। द्वितीय भोग साधन अर्थात् इन्द्रियाँ जिनके द्वारा आत्मा भोग किया करता है और तृतीय भोग विषय अर्थात् पदार्थ जिसका भोग आत्मा करता है। इन तीनों प्रकार के पदार्थों से युक्त ही संसार है। जो नाना रूप है और अनादि है। इसलिए मीमांसा भी न्याय वैशैषिक की तरह अनेक तत्त्ववादी है। ये दर्शन वेद को प्रामाणिक मानते हैं। मनुष्य का चरमोत्कर्ष ही अपवर्ग की प्राप्ति है।

मीमांसा दर्शन में कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के अतिरिक्त शक्ति भी स्वीकार करनी चाहिये। एक बीज में स्वयं के अतिरिक्त अंकुरण शक्ति है क्योंकि देखा जाता है कि यदि बीज को आग में भून दिया जाए तो उसकी अंकुरण शक्ति समाप्त हो जाती है। उस स्थिति में बीज से अंकुरण प्रस्फुटित नहीं होता।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के भाष्यकारों ने अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की सृष्टि की है। वास्तव में वेदान्त दर्शन का अपना स्वरूप भाष्यकारों के दार्शनिक मतों के कारण धूमिल सा हो गया है। इसलिए जो मूल दर्शनों के अध्येता नहीं है वे वेदान्त दर्शन की अद्वैत वेदान्त के रूप में स्वीकार करते हैं। वेदान्त दर्शन से ही आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त दार्शनिक मतों की स्थापना की है, इसी वेदान्त के भाष्य ने द्वैतवाद मत की स्थापना की है। ब्रह्मसूत्र एवं वेदान्त दर्शन में सृष्टि के रचियता ब्रह्म के स्वरूप की सिद्धि व्यावहारिक तर्कों के अनुसार की है।

आचार्य शंकर के अनुसार सत् वही है जो उत्तर कालिक किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न हो। दूर पड़ी रस्सी का सर्प ज्ञान प्राप्त व्यक्ति के द्वारा बतला दिए जाने या स्वयं दीपकादि के प्रकाश में अवलोकान्तर बाधित हो जाता है। अतः उसे सत् नहीं कहा जा सकता है। सत् तो त्रिकालाबाधित होता है। ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है जो त्रिकाल समभाव से उपस्थित रहता है। वह सदा और सर्वत्र निर्बाध है। ब्रह्म से पृथक् नानात्मक जगत् मिथ्या है। इसलिए अद्वैतवादी तीन तरह की सत्ता मानते हैं- १. प्रातिभासिक २. व्यावहारिक ३. पारमार्थिक।

प्रतिभासिक सत्ता से अभिप्राय है जिसकी प्रतीति सत्यवत् हो परन्तुउसके बाद वह बाधित हो जाएं जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति। जगत् अपने परमार्थ रूप में इसी तरह है जो तत्त्व ज्ञानान्तर बाधित हो जाता है। व्यावहारिक सत्ता इस जगत् के समस्त व्यवहार गोचर पदार्थों में रहती है। इसमें रूप और नाम जगत् के धर्म हैं। इस सत्ता के अनुसार नानात्त्व से भरा हुआ जगत् समस्त जड़ पदार्थ सत् रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु उन सबकी सत्ता व्यवहार के लिए ही है। ब्रह्म के ज्ञान के पश्चात् वह समस्त जड़ जगत् का ज्ञान बाधित हो जाता है। अतः वह एकान्तिक सत्य था। व्यवहार काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक ही है। इन सबसे विलक्षण त्रिकालाबाध्य हैं, अतः वही पारमार्थिक सत्ता है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से अद्वैतवादी विवर्तवाद को मानते हैं, जिसके अन्तर्गत जगत् सद् असद् विलक्षण माया का तो परिणाम है परन्तु ब्रह्म का विवर्त है।

अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहा जाता है। कारणभूत ब्रह्म मात्र सत्य है। कार्यभूत जगत् अतात्विक है। अतः मिथ्या है। ब्रह्म जगत् की जो हमें प्रतीति होती है, वह मिथ्या है।

ज्ञान शास्त्रीय दृष्टि से अद्वैतवादी वेदान्ती अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करते हैं। जिसमें सांसारिक पदार्थों की सत्ता को न तो सत् कहा जा सकता है क्योंकि तत्व ज्ञानान्तर उसकी सत्ता का बोध होता है, न उसे असत् कहा जाता है क्योंकि जागतिक पदार्थ असत् होते तो उनकी प्रतीति कदापि सम्भव नहीं होती। उनकी व्यवहार काल में प्रतीति होती है। न वे पदार्थ सदसत् अभावग्रस्त हैं। अतः हमें अनिर्वचनीय का ज्ञान होता है। इस तरह अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् सर्वथा मिथ्या है। वस्तुतः ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है।

यथार्थवादी अवधारणा के अनुसार बाह्य जगत् की सत्ता वास्तविक है। वह अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य पदार्थ पर पूर्णरूपेण अवलम्बित नहीं है। प्रायः ऐसे यथार्थवादी दृष्टिकोण मानने वाले दर्शन किसी न किसी रूप में द्वैतवादी है। वे जहाँ चेतन की सत्ता को वास्तविक मानते है वहाँ जड़ की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं। इसमें भौतिकवादी चार्वाक का मत यह है कि केवल भौतिक जगत् ही है। जो चार महाभूतों के संयोग से निर्मित हुआ है। चार्वाक का यह भौतिकवादी मत होते हुए भी किसी न किसी रूप में चार्वाक को अद्वैतवादी मानना ही अपेक्षित है क्योंकि जहाँ अद्वैतवादी केवल ब्रह्म को ही एक मात्र सत् मानते हैं। उसी तरह जड़वादी चार्वाक केवल जड़तन्त्र को स्वीकार करता है।

जीवात्मा और ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता है। अतएव चार्वाक और अद्वैतवादी मत एक ही जगह आकर एकीकृत होकर उपस्थित हो जाते हैं कि विश्व की पहेली का समाधान एक ही कारण मानकर किया जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि एक जड़ को कारण मानता है, दूसरा चेतन को मानता है। दोनों कारण एक ही मानते हैं एक चेतन को एक जड़ को।

दार्शनिक संघर्ष अद्वैत दर्शन एवं बौद्ध वैभाषिक दर्शन के बीच गहरा गया, जिससे दोनों दर्शनों की विचारधाराओं ने विश्वव्यापी महत्त्व स्थापित किया है। अद्वैतवादी वेदान्त के एकात्म प्रत्ययवाद के विरोध में वैभाषिकों का कहना है कि आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व मनुष्यों में नहीं है। मनुष्य भौतिक एवं मानसिक धर्मों का योग मात्र है। प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है। वे धर्म शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं। उनसे निवृत्त पदार्थ परिवर्तन के अधीन है। पदार्थ और वस्तुएँ अविरल परिवर्तनशील धर्मों की अनवरत धारा हैं। वैभाषिकों के अनुसार धर्म की यह चिन्तन धारा केवल निर्वाण अवस्था में ही शान्त और आनन्द प्राप्त करती हैं। धर्मों की इस गतिशीलता और इच्छा के अवरोधानन्ता ही निर्माण प्राप्तव्य है। तथापि यह दृष्टिकोण यर्थाथ की उपेक्षा नहीं करता। वैभाषिक सम्प्रदाय परमाणुवाद को स्वीकार करके भी पदार्थों की क्षण भंगुरता पर बल देते हैं। इनके मतानुसार क्षणभंगुर

अस्तित्व वाले हैं क्योंकि वस्तुओं के स्वरूप एक के बाद एक हमारी समझदारी में स्थान बना लेते हैं। एक कालिकता की भ्रम उनकी गति की लाघवता के कारण होता हैं। जैसे बाणानुविद्ध पुरुष के बारे में हम यह समझते हैं कि उसकी आठों पंखुड़ियों को बाद में एक साथ ही बाँध दिया है। अग्नि का एक स्फुलिंग एक चक्र के समान दिखाई देता है। जगत् के यर्थाथ के विषय में उनका यह तर्क है कि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष में दिखाई देती हैं, उनका मन आत्मा या चेतन से सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह ब्रह्माण्ड के स्रष्टा के रूप में किसी ब्रह्म या परमात्मा की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। ये लोग ज्ञान प्रक्रिया में वैभाषिक इद्रिन्यों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इनके मत में दृश्य वस्तुओं से स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व नहीं है। यह विषय और इन्द्रियों द्वारा समर्पित होता है। इनकी ज्ञान-प्रक्रिया इस तरह है- रूप का एक क्षण चक्षु का एक क्षण, तथा चित्त का एक क्षण। जब एक निकट सम्पर्क में आते हैं तो इसको एक ही रूप का दर्शन कहते हैं। इनके मतानुसार पदार्थ इन्द्रियों के माध्यम से चेतना पर अपना स्वरूप अर्पित करता है।

वैदिक युग के ऋषियों ने वेद की ऋचाओं का समाधिनिष्ठ होकर उसका साक्षात् करते हुए अनुभूति मूलक सत्य के उद्घाटन का प्रयास किया। कहा भी है- हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् भौतिक चमक दमक से सत्य का मुख उद्घाटित नहीं है। इसे वेद ऋचा से अन्वेषण में उपनिषद् के ऋषि ने कहा हे ज्ञान के प्रचेता! सत्य के

धर्म को उद्‌घाटित करते हुए सत्य को जिस ढ़क्कन से आच्छादित कर रखा है, उसको ज्ञान के प्रकाश से उद्‌घाटित कर दो। इस तरह उस समय के ऋषियों ने वेदों की दो रूप में व्याख्या की। ज्ञानकाण्डीय व्याख्या उपनिषदों के रूप में कर्मकाण्डीय व्याख्या ब्राहमण ग्रन्थों के रूप में।

दर्शनशास्त्र का मूल प्रस्फुटित रूप में उपनिषदों में प्राप्त होता है। वस्तुतः अनेक तपस्वियों मुनियों तथा प्रचेताओं का अगाध चिन्तन उपनिषदों में प्राप्त होता है। जो उद्‌भाव के मानस को तो प्रभुदित कर देता है, प्रत्युत जिसने भाषा चिन्तकों के पथ का भी निदर्शन किया है। यही कारण प्रतीत होता है कि चाहे दर्शन द्वैतवादी हो या अद्वैतवादी अपने विचारों की उद्‌भूतता एवं सम्पुष्टता के लिए उपनिषदों के आभारी हैं। सभी दर्शनों का स्रोत इन उपनिषदों के दार्शनिक विचारों में प्रचेताओं ने अन्वेषण रूप में प्रस्तुत किया है। सभी दार्शनिकों ने उपनिषदों के विचारों को अपने मतानुसार साँचे में ढ़ाला है। इन उत्तरवर्ती दार्शनिकों में वेदान्ती बादरायण, अद्वैतवादी शंकर, विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज तथा द्वैतवादी माधवाचार्य के नाम प्रमुख है। इन सभी ने उपनिषदों के अतिगहन दार्शनिक विचारों को भिन्न-भिन्न गहन व्याख्या प्रस्तुत की है।

शंकर के दर्शन के बाद शास्त्रार्थ युग प्रारम्भ हुआ है। इसमें अद्वैत वेदान्त के उत्तरवर्ती अनेक आचार्य जिन्होंने अद्वैत वेदान्त को ही अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। जिसमें द्वैताद्वैत शुद्धादेत विशिष्टाद्वैत आदि के द्वारा इसी अद्वैतवाद के विकास के लिए विपुल साहित्य की रचना की है। इसी अद्वैतवाद के साथ-साथ ही अनेक द्वैतवादी आचार्य भी उत्पन्न हुए उन्होंने उतने ही जोर से अद्वैतवादी दार्शनिक मान्यताओं का सबल तर्कों के द्वारा विस्तारपूर्वक खण्डन किया, इसी के साथ माध्वाचार्य के सम्प्रदाय ने भी न्यायामृत आदि ग्रन्थों में अद्वैतवादी सिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन किया है। इसी तरह निम्बार्क सम्प्रदाय के कश्मीरी पण्डित माधव मुकुन्द ने अपने ग्रन्थों में शंकर के सिद्धान्तों का समूलोच्छेदन करने का प्रयास किया है।

आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द तक भारतीय दर्शन विकसित होता गया। इसके बाद भी दार्शनिक धारा सतत प्रवाहित होती चली गई। महर्षि दयानन्द ने उद्घोषणा की कि हमें पुनः वेदों की ओर चलना है। उन्होंने वेदों की चमत्कृत और वैज्ञानिक व्याख्या की। उन्होंने वेदों को केवल कर्मकाण्डीय ग्रन्थ न मानकर वेदों के अन्दर मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक की समस्याओं का समाधान खोजने को कहा। इसके साथ ही उन्होंने पुनः द्वैतवादी दर्शन की स्थापना की।

भारतीय दर्शन प्रमेय प्रधान के रूप में विकसित हुआ। इसमें वेदान्त मीमांसा योग और वैशेषिक आदि दर्शन माने जा सकते हैं। पुनः प्रमाण के रूप में दर्शन विकसित हुआ, इसमें न्याय सांख्य, जैन एवं बौद्ध आदि दर्शनों को सम्मिलित किया जा सकता है। सांख्यदर्शन में 'प्रमेय सिद्धि प्रमाणाद्धि' ऐसा कहा गया है। प्रमेय एवं पदार्थों का विनिश्चय प्रमाणों के माध्यम से होता है।

प्रमाणों का आदि स्रोत भी वेद ही हैं। वेद में जैसा कि वर्णित है कि ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया जाए इस सम्बन्ध में अनेक सूक्त एवं मन्त्रों में प्रतिपादन प्राप्त होता है। वेद में कई स्थानों पर प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी तरह प्रमा शब्द का प्रयोग भी मिलता है। अथर्ववेद और यजुर्वेद में प्रमा शब्द का प्रयोग दर्शन में समझे जाने वाले अर्थ में हुआ। यजुर्वेद में कहा गया है कि *'सहस्तोमाः सह छन्दस आवृतः सह प्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।*[1]*'* जो ज्ञान से आवृत है उसे प्रमाणादि के ज्ञान से यर्थाथ ज्ञान प्राप्त करायें। जब वेद एवं वैदिक साहित्य ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषद् आदि साहित्य में प्रत्यक्ष शब्द उपलब्ध है तो ऋषियों ने इसी प्रत्यक्षादि शब्दों की परिभाषायें तर्क और युक्तियों से दर्शनों का विकसित किया है। इन षड् दर्शनों से पूर्व भी इन ज्ञान मीमांसा आदि विधाओं के व्याख्याता रहे होगें। भारतीय दर्शन से सम्बन्धित किसी भी समस्या के आदि स्रोत एवं सूत्र की मीमांसा हेतु वेदों की ओर जाकर मूल वेदों में उस मूल ज्ञान की मीमांसा हेतु मूल वेदों में उस मूल ज्ञान के स्रोत का अन्वेषण करना है।

---

1. यजुर्वेद अ. 34 सं. 49

(२) वेदों में दर्शन दृष्टि का प्रारम्भ :-

प्रज्ञा मूलक एवं तर्कमूलक ये दो तरह की विधायें भारतीय साहित्य में मिलती हैं। प्रथम द्वारा प्रतिभा चक्षुओं द्वारा तत्त्व विवेचन होता है तथा द्वितीय विधा द्वारा तत्वों की समीक्षा के लिए तर्कमूलक विधा का अनुसरण किया जाता है। प्राकृति मौलिक पदार्थों को देखकर उन ऋषियों के मन में उनके सूक्ष्म कारण को अवलोकित करने के लिए जिज्ञासा उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी। जो वेदों में उनके मूल सूत्र बिखरे पड़े थे उन्हीं से अन्वेषण की दिशा में कार्यकारणवाद का जन्म हुआ। इसी श्रृंखला में अनुमान आदि अन्य प्रमाणों का आविर्भाव विकसित रूप में उपलब्ध हुआ होगा। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि रचना से पूर्व की अवस्था अनुमानित की गई है कि उस प्रलयकाल में न असत् था और न सत् था। न ही अणुओं से भरा आकाश था। क्या बहुत गम्भीर जल था? उस समय कहाँ क्या आच्छादित था? किसके आश्रय में था? आगे कहा गया कि उस समय न मृत्यु थी। वह एक अपनी स्वधा के साथ बिना प्राण वायु प्राणन कर रहा था। इससे परे कुछ भी नहीं था। इस तरह प्रलयावस्था तथा सृष्टि रचना के पूर्व गम्भीर एवं अतिसूक्ष्म दार्शनिक वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। न असत् तथा न सत् की विद्वान अनेक व्याख्याएें प्रस्तुत करते हैं। उनका विस्तृत वर्णन करना यहाँ पर उपयुक्त होगा। सृष्टि रचना से पूर्व गम्भीर एवं अतिसूक्ष्म दार्शनिक वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। सृष्टि रचना से पूर्व अर्थात् प्रलय काल में यह विश्व इस रूप में कार्यरूप सत् नहीं था।

न्याय दर्शन के अनुसार कार्य उत्पन्न होने से पूर्व सत् नहीं होता, परन्तु कारण रूप में वह असत् भी नहीं होता है। इसी तरह पुरुष सूक्त में भी विश्व संरचना के सम्बन्ध में विविध प्रकार का अनुमान वाक्यों का प्रयोग हुआ। इतना ही नहीं यर्थाथ ज्ञान के लिए प्रमा शब्द का प्रयोग अनेक बार वेदों में प्रयुक्त हुआ है। प्रमा पद में प्रयुक्त या धातु का वास्तविक तात्पर्य अर्थपरिच्छेद एवं प्रकृष्ट अर्थ का परिचायक होने से यर्थाथता के ज्ञान का बोध कराता है। सायणाचार्य ने भी ऋग्वेद के प्रमा और प्रमिति पदों की व्याख्या करते हुए यज्ञवेदी के इयत्ता परिणाम के लिए प्रथम का अर्थप्रमाण एवं इयत्ता परिज्ञान के लिए और द्वितीय का अर्थ प्रमिति किया है। प्रमा 'प्रमाणं इयत्ता कथं भूता आसीत् प्रमितिः यज्ञस्येयत्ता परिज्ञानम्।'[1] कुमारिल भट्ट ने विशेषतो दृष्ट अनुमान के गोमेय ईधन से उत्पन्न होने वाले धूम को देखा। तत्पश्चात चारों दिशाओं में व्याप्त इस निकृष्ट धूम के द्वारा मुझे अदृष्ट नीचे दबी हुई अग्नि का ज्ञान हुआ। जिसके द्वारा वीर या ऋत्विक् शुक्ल वर्ण, वृष या फलदाता सोम का पान करते हैं। इसी तरह यजुर्वेद में सूर्य और नक्षत्रों की गति का वर्णन कई स्थलों पर मिलता है जो आगे चलकर योगभाष्य, शाबरभाष्य और न्याय भाष्य आदि में देवदत्त के स्थानान्तर प्राप्ति से चन्द्र तारागण आदित्य के गतिशील होने के सामान्यतो दृष्ट अनुमान में जो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं उसी तरह अथर्ववेद में 'अनुमृश्य' तथा अनुमेय पदों का प्रयोग मिलता है। इस तरह ब्राह्मण ग्रन्थों को 'वाकोवाक्य' का संकेत छान्दोग्य उपनिषद् में भी पाया जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में युक्ति पद भी उपलब्ध होता है। चरक संहिता में युक्ति को स्वतन्त्र, प्रमाण माना गया है।

---

1. ऋग्वेद– 1164–43

ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में अध्यात्म विद्या का व्याख्यान अनुभूतिमूलक है। जैसे कि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं, पति, पुत्र आदि समस्त वस्तु अपने लिए प्रिय नहीं होते अपितु आत्मा के लिए ही प्रिय होते हैं। अतः दर्शन, श्रवण और मनन द्वारा आत्मसाक्षात्कार करो। सावधानीपूर्वक निदिध्यासन करो। इस तरह वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होने वाले पदों, दर्शन, श्रवण मनन आदि में प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि के मूल स्रोत जान पड़ते हैं।

वैशेषिक सूत्र और प्रशस्तपाद भाष्य में यथार्थ ज्ञान एवं अययार्थ ज्ञान के लिए विद्या और अविद्या शब्दों का प्रयोग मिलता है। उपनिषदों में विद्या और अविद्या शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। इतना ही नहीं अपितु प्रशस्तपाद भाष्य में अर्थापत्ति प्रमाण को जिस प्रक्रिया द्वारा अनुमान प्रमाण में अन्तर्भावित किया गया है, उसका स्त्रोत भी उपनिषद् साहित्य में उपलब्ध है। उत्तरवर्ती न्याय आदि में पाये जाने वाले अनेक शब्द 'अनुमीयते अनुमीयन्ते अनुविनाभाविनी' इत्यादि शब्द उपनिषदों में व्याख्या सहित उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं, यजुर्वेद और ब्राह्मण के सदृश वृहदाराण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में अनुवीक्षण शब्द भी प्राप्त होता है। जिसके आधार पर उपनिषदों की आत्मविद्या को कालान्तर में आन्वीक्षिकी विद्या कहा गया प्रतीत है।

आन्वीक्षिकी विद्या का विकास अनेक दर्शनों में समाहित हो गया। न्याय, सांख्य, लोकायत आदि में इसका विकास प्राप्त होता है। यह संशयवादी एवं तर्कमूल अवधारणा प्रश्न और उत्तर आदि के माध्यम से वेदों में भी मिलती है। जिसका संकेत ऋग्वेद और वृहदारण्यक उपनिषद् का अनुकरण करते हुए कठ और छान्दोग्य उपनिषदों, यम-नचिकेता और प्रजापति इन्द्र विरोचन के संवादों में मिलता है। यद्यपि वाल्मीकि रामायण, महाभारत मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य आदि स्मृति ग्रन्थों में आन्वीक्षिकी विद्या को सीमित रूप में ग्रहण किया है तो भी उसमें तर्कमूलक प्रवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है।

आन्वीक्षिकी विद्या के हेतु, शास्त्र, तर्कविद्या तथा वाद विद्या आदि नामों से प्रतिष्ठित किया है। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता एवं दण्डनीति इन पर विद्याओं को अध्ययन करने के लिए विधान किया है। यह आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत मनुष्य को सोचने, विचारने, बोलेन तथा क्रिया करने में निष्णात करती है।

इस आन्वीक्षिकी विद्या को सदा से ही समस्त विद्याओं का प्रकाशक समस्त कार्यों का साधन और सभी धर्मों का आश्रय माना गया हैं। आन्वीक्षिकी विद्या को परिभाषित करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाणों पर आश्रित रहने वाले अनुमान तथा प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण की सहायता से ज्ञात विषय की अनु-पश्चात् ईक्षा अर्थात् ईक्षण जानना या ज्ञात करना ही अन्वीक्षा है।

शांकर वेदान्त की तरह चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न मानकर पूर्णतया सगुण माना गया हैं। ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के तीन प्रमुख रूप हैं- विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति। विष्णु शक्ति के भी हलादिनी, सन्धिनी और शक्ति भेद से तीन भेद हैं- सत्, चित् एवं आनन्द शक्तियाँ परा शक्ति या विष्णु शक्ति के अन्तर्गत वर्तमान हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं हैं।

दर्शनशास्त्र के उपरिवर्णित संक्षिप्त प्राचीन स्वरूप ने समस्त जगत् की भ्रान्तियों, सन्देहों एवं मोहजनित आसक्तियों का समूलोच्छेद करके निश्चित तौर पर मानव को उसके चरम आदर्श मोक्ष मार्ग पर पहुँचा दिया है। इसके बाद आधुनिक काल के दार्शनिक विद्वानों ने एक वैचारिक क्रान्ति का युग प्रवर्तित किया। आधुनिक युग में साहित्य या दर्शन सभी क्षेत्रों में परम्परा से हटकर विचार करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी पण्डित अम्बिकादत्त व्यास एवं पण्डित क्षमाराव प्रभृति विद्वान् एवं विदुषियाँ सम सामयिक विषयों पर विचार करने एवं लेखन परम्परावादी न होकर बौद्धिक गवाक्ष से धर्म-दर्शन के साथसाथ वर्तमान जीवन की राजनीतिक आर्थिक व सामाजिक एवं वैज्ञानिकव इतर समस्याओं का प्रत्यक्ष करने के कारण तद् तद् विषयों पर विचार करने के लिए विवश थे। इस युग के विवेकशील भारतीय चिन्तकों की दृष्टि के मूल में पश्चिम का राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं वैज्ञानिक विकास भी कारण कहा जा सकता है। यही कारण है कि वर्तमान युग के संस्कृत लेखकों ने महाभारत, रामायण, कालिदास एव

भवभूति की परम्परा से बहुत कुछ विमुख होकर अपना ध्यान सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक समस्याओं की ओर आकृष्ट किया है। इसी प्ररिप्रेक्ष्य में आधुनिक युगीन धार्मिक सन्तों ने अपनी वैचारिक क्रान्ति फैलायी। यहाँ यह कहना उचित होगा कि महात्मा गांधी

बालगंगाधर तिलक, विनोवा भावे आदि युग पुरुषों का मन्तव्य एवं गन्तव्य राजनैतिक व सामाजिक होते हुए भी दार्शनिक व आध्यात्मिक स्तर से आपूरित था। सन्त विनोवा भावे ने 'भूटान यज्ञ' नामक पत्रिका में स्पष्ट शब्दों में कहा था- "हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है।" इसी तरह गांधी, टैगोर एवं तिलक आदि की विचारधारा में आध्यात्मिक पुट देखा जा सकता है। आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता एकात्मवाद के दृष्टिकोण के द्वारा राजनीति समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सर्वांगीण एवं सार्वभौम विकास के साथ-साथ मानव मात्र के कल्याण की भावना को स्थापित करती है। दर्शन का एकात्मवाद ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का मूल है। यहाँ पर कहना भी अतिश्योक्ति पूर्ण नहीं होगा कि आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि के ह्रास के कारण आधुनिक समाज एवं राजनैतिक क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। आज पश्चिमी दार्शनिक विचारक भी इस तथ्य को स्वीकारते है कि वेदान्त दर्शन का दृष्टिकोण समाज की घरेलू आर्थिक विषमताओं के निराकरण में सर्वथा समर्थ है। आर्थिक विषमताओं के निराकरण एवं विविध सामाजिक एवं प्रस्तुत प्रकरण के अन्तर्गत यह वक्तव्य है कि उन्नीसवी सदीं के रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द प्रभृति दार्शनिकों के सन्देश में धर्म-दर्शन एवं सामाजिक दृष्टि का मिश्रित स्वर गुंजायमान था।

एनीबेसेन्ट (१८४७-१६३३) ने भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म की ओर विदेशियों को बहुत आकृष्ट किया है। आधुनिक युग की

महान् गौरवशाली योरोपीय महिला एनी बेसेन्ट का नाम एनी वुड था। इनका विवाह 'फ्रैंक वेसेन्ट' नामक पादरी से होने के कारण इनका नाम एनी बेसेण्ट पड़ा। एनी वेसेन्ट भारत में १८६३ में आई थीं। वे जाति-पाँति एवं विविध रुढ़ियों की विरोधिनी थी। भारत में अंग्रेजो के आधिपत्य का एनीबेसेण्ट विरोध करती थी। ये भारतीय ईश्वरीय ज्ञान एवं अध्यात्म से बहुत प्रभावित थीं। इसलिए ये ''थियोसोफीकल सोसायटी'' की अध्यक्ष नियुक्त की गई थीं। जे. कृष्णमूर्ति से भी वे विशेष प्रभावित थीं।

सिस्टर निवेदिता (१८६७-१६११) का मूल नाम मारगरेट नोबिल था। ये आयरिश थी, किन्तु जब वह रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आई और उन्होंने रामकृष्ण परमहंस की विचारधारा को स्वीकार किया, तभी से वे अपने आपको 'निवेदिता' कहने लगी। कु. निवेदिता लन्दन में विवेकानन्द का भाषण सुनकर उनकी विचारधारा से विशेष रूप से प्रभावित हुई थी। उन्हें शरीर, मन एवं आत्मा की आध्यात्मिकता का सिद्धान्त अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हुआ। भारतीय अवतारवाद के सिद्धान्त से कु. निवेदिता अत्यधिक प्रभावित हुई थी कि व्यक्ति सत्य से सत्य की ओर जाताहै न कि भ्रान्ति से सत्य की ओर। वे विवेकानन्द की उच्च विचारधारा समर्पित सेवा भावना एवं आध्यात्मिक दृष्टि की भक्त थी। कु. निवेदिता ने स्वयं को भारतीय धर्म, दर्शन, आध्यात्मिकता एवं मानवसेवा तथा भारतीय नारी के अभ्युत्थान के लिए समर्पित किया था। वे मानव सेवा को आध्यात्मिकता से ऊपर मानती थी। कु. निवेदिता ने भारत वर्ष एवं विदेशों में भारतीय धर्म एवं दर्शन पर अनेक भाषण दिए थे। निवेदिता भी एनी बेसेण्ट की तरह पूर्ण भारतीय हो गई थीं।

इसके बाद अरविन्द्र घोष जो एक योगी एवं उत्कृष्ट दार्शनिक थे। यहाँ उनकी चर्चा एक अद्वैतवादी के रूप में की जा सकती है। अद्वैतवादी तो वे थे ही, परन्तु उनका अद्वैतवाद, ब्रह्म द्वैतवाद से भिन्न था। अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्त को शिवाद्वैतवाद का रूप देना समुचित होगा। अरविन्द के शिवाद्वैत-दर्शन के अनुरूप शिव तत्त्व ब्रह्म रूप है, और उसकी चित्‌ शक्ति अपृथग्भूत है। जगत्‌, शिव की चित्‌-शक्ति का ही परिणाम है। इसलिए अरविन्द दर्शन में भी जगत्‌ प्रिय रूप है। यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अरविन्द दर्शन के अनुसार जगत्‌ अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। अरविन्द घोष ने जगत्‌ के मिथ्या तत्त्व का निराकरण करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है।

अरविन्द घोष जगत्‌ को चित्‌ शक्ति का कार्य करने के कारण चेतन रूप में भी मानते थे, यही सिद्धान्त अरविन्द घोष का जड़-चेतन वाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं को हम जड़ कहते हैं वे भी स्वरूपतः चेतन ही हैं। इस तरह जगत्‌ के भौतिक पदार्थों को भी अरविन्द चेतना की ही गुण मानते थे। अरविन्द दर्शन के अन्तर्गत जगत्‌ की इस चिद्‌रूपता का दर्शन जीव को अज्ञान के कारण नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अरविन्द घोष शांकर अद्वैतवादियों के समान जगत् को मायिक एवं मिथ्या नहीं स्वीकार करते। जगत् को वे मिथ्या माया न कहकर अज्ञान स्वरुपिणी माया को जगत् के वास्तविक स्वरूप ज्ञान में बाधक मानते थे। जगत् की समस्या को सुलझाने के लिए अरविन्द घोष 'माया' शब्द के स्थान पर 'लीला' शब्द को अधिक उपयोगी मानते थे। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सृष्टि परमात्मा की लीलामात्र है। परमात्मा की लीला रूप सृष्टि को कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

अरविन्द घोष के उपर्युक्त कथन से वे तान्त्रिक प्रतीत होते हैं। वस्तुतः जगत् पूर्णतया आनन्द रूप है। जगत् आनन्द से ही उत्पन्न तथा आनन्द से ही जीवित एवं आनन्द के ही क्षेत्र में घूमता रहता है। इस तरह अरविन्द घोष के मतानुसार जगत् की सत्ता आनन्द एवं शक्तिरूप है। कर्म के सम्बन्ध में श्री अरविन्द गीता की विचारधारा के समान आत्मसमर्पण के पक्षपाती है। उनका कथन है कि हमें अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को भगवान् के हाथों में समर्पित कर देना चाहिए। इस प्रक्रिया से व्यक्ति का अहं उस 'तत्' की ओर केन्द्रित होगा जो उससे अनन्तगुणा महान् है।

स्वामी रामतीर्थ (१८७३-१९०६ई.) ने दार्शनिक धारा को नया मोड़ दिया। इनका जन्म पंजाब के गुजराँ वाला जिले के मुरारी वाला ग्राम में हुआ था। आरम्भ में ये "गोस्वामी तीर्थराम" के नाम से विख्यात थे। इनकी आरम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई थी। फारसी की दो प्रसिद्ध पुस्तकों गुलिस्ताँ एवं मुलिस्ताँ का अध्ययन इन्होंने बचपन में ही कर लिया था। स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त को आधार मानते हुए कहा था, वेदों की आत्मा सत् ज्ञान है।[1] इसी सत् रूप ज्ञान की व्याख्या वेदान्त में अनेक रूपों में हुई है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार वेदान्त का अर्थ स्वाधीनता एवं स्वतन्त्रता है। वस्तुतः वेदान्त सम्मत "मोक्ष आत्मा की स्वतन्त्रता

---

1. व्यावहारिक वेदान्त भाग 11 पृ0 145

अर्थात् संसार से सम्बान्धाभाव का ही समर्थन करता है।[1] स्वामी रामतीर्थ ने समुचित ही कहा है कि वेदान्त की दुर्दशा का कारण वेदान्त का अभाव है।[2] वेदान्त की विचारधारा को स्पष्ट करते हुये स्वामीजी ने कहा है कि संसार नाम रूप का परिणाम है। स्वामी जी के अनुसार वेदान्त हमें शक्ति प्रदान करता है न कि दुर्वलता। आध्यात्मिक शिक्षा पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि बौद्धिक शिक्षा आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव में निष्फल है। वस्तुतः आध्यात्मिकता हमें दृढ़ता प्रदान करती है।

शांकर वेदान्त ने माया को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। इसी तथ्य को रामतीर्थ ने अपनी भाषा में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस बात की हम पूर्ण रूप से व्याख्या न कर सकें उसी का नाम माया है। वेदान्त में कर्म चित्रशुद्धिका का साधन तो है, किन्तु मोक्ष का हेतु नहीं। इसी की पुष्टि करते हुए स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि ज्ञानवान् पुरुष ही इस विश्व के पदार्थों और बन्धनों से मुँह मोड़कर मुक्ति के अमृत को प्राप्त करते हैं।

राष्ट्रियता का आधार स्वामी रामतीर्थ की दृष्टि में वेदान्त की दृष्टि है। स्वामी जी का विचार है कि राष्ट्रहित के लिए प्रयास करना ही विश्व की शक्तियों अर्थात् देवताओं की आराधना करना है। इस तरह वेदान्त की व्याख्या स्वामी रामतीर्थ ने समाज, धर्म, संस्कृति दर्शन एवं आध्यात्मिकता के आधार पर की थी। संक्षेप में ये व्यावहारिक वेदान्त के पक्षपाती थे।

रमण नामक दार्शनिक (१८७६-१६५०) ने 'परिचय पुराणम्' से प्रेरणा प्राप्त कर निःस्वार्थ मानव सेवा का उपदेश दिया था तथा मानव सेवा को ही सेवा का कारण इन्होंने सिद्ध किया था। ये सत्कर्म को ही मोक्ष का हेतु स्वीकार करते थे। ये एक कर्मयोगी एवं तपस्वी सन्त थे। अध्यात्म की तो ये साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। आज समाज में इसी तरह

---

1. वेदान्त शिखर भाग 6 पृ. 500
2. वेदान्त शिक्षर भाग 6 पृ. 90

के समाजसेवी आध्यात्मिकों की आवश्यकता है। महर्षि की यह सहनशीलता अवलोकनीय है कि कभी भी जूते या किसी तरह के पादत्राण नहीं पहनते थे। पैरों को काँटों से भरे होने पर भी बीहड़ जंगलों में महर्षि नंगे पैरों ही प्रसन्नता से चलते थे। सिद्धान्ततः ये अद्वैती ही थे तथा ब्रह्म को औपनिषद वेदान्त के समान सर्वव्यापी मानते थे। महर्षि का विश्वास था कि महर्षि में 'मैं' का अनुभव 'ब्रह्म तत्त्व' का अनुभव है 'अहं ब्रह्मास्मि।' महर्षि का उपदेश है कि ब्रह्म ज्ञान के लिए जिज्ञासु को अपने भीतर ही 'मैं कौन हूँ' ऐसी आत्म जिज्ञासा होनी चाहिए।

रमण महर्षि एक अद्वैतवादी दार्शनिक थे। विवेकानन्द के समान उनकी दृष्टि में मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं था। उनका मानना था कि सभी में एक आत्मा वर्तमान है।

जे. कृष्णमूर्ति (१८९४) जिद्दू कृष्णमूर्ति अद्वैत वेदान्त से पूर्णतया प्रभावित थे। वे सत्य को किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय से प्राप्तव्य नहीं मानते थे। वे सत्य को एक ऐसे देश के समान मानते थे जिसके लिए किसी मार्ग की अपेक्षा नहीं है, यह औपनिषद वेदान्त की वही दृष्टि है जिसके अनुसार आत्मा न प्रवचन का विषय है, न बुद्धि का और न बहुधा श्रवण का। वह तो मात्र अनुभव स्वरूप है। सत्य की तुलना मार्ग रहित देश से करते हुए वे कहते हैं कि जब सर्वत्र कण-कण में परम सत्य परमेश्वर व्याप्त है तो उस तक पहुँचने के लिए मार्ग साधन का प्रश्न ही कहाँ उठता है? क्योंकि वह तो साधन में भी हैं। इस सिद्धान्त का स्पष्ट आधार 'छान्दोग्योपनिषद्' का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सिद्धान्त हैं।

कृष्णमूर्ति का तर्क है कि सत्य स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति के लिए किसी साधन की अपेक्षा न होकर चित्त की एकाग्रता आत्मस्वरूप बोध, सत्यस्वरूप के स्मरण एवं आचार व्यवहार की अपेक्षा है। सत्य को मार्गरहित देश कहते हुए भी कृष्णमूर्ति ध्यान को वर्तमान एवं उसके ऊपर जो कुछ है, उसका प्रत्यक्ष मानते हैं। यहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि ध्यान साध्यप्राप्त की प्रक्रिया है, साधन है, साध्य नहीं। साध्य तो समाधि ही है। उपनिषद् भी यही कहती है- श्रोतव्यो

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अर्थात् आत्मा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का विषय है। इस तरह सत्य अथवा आत्मा या परमात्मा परमेश्वर की प्राप्ति के लिए सामान्यतया श्रवणादि की साधनता स्वीकार करनी चाहिए।

मोक्ष के सम्बन्ध में कृष्णमूर्ति की धारणा वेदान्त जैसी ही है। कृष्णमूर्ति मोक्ष को अनिर्वचनीय, असीम, सत्य कालातीत एवं सृजनात्मक कहते हैं। यही आशय उनकी कविता की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है।

वेदान्त में बन्धन का कारण ममत्व एव परत्व मूलक अज्ञान है। इस अहंकार मूलक अज्ञान के कारण ही जीव अहंकारवश अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा का बोध नहीं कर पाता। इसी तरह कृष्णमूर्ति ने भी अहंकार के बन्धन का कारण स्वीकारते हुए कहा है कि जब तक मनुष्य में 'अहं' है तभी तक भ्रष्ट, आचार, संशय एवं दुख हैं। क्या इस अहं स्वरूप अज्ञान के नाश के बिना परमार्थ एवं पूर्ण सत्य की प्राप्ति सम्भव हैं।

आचार्य विनोबा भावे (१८९५) जी का दार्शनिक सिद्धान्त सर्वोदय दर्शन हैं। सर्वोदय शब्द के ही अन्तर्गत विनोबा जी की अद्वैतनिष्ठा का परिचय मिल जाता है। विनोबा जी पर औपनिषद वेदान्त का भी पूर्ण प्रभाव हैं। विनोबा जी पर गीता एवं उपनिषदों के प्रभाव का परिज्ञान उनके निम्नांकित कथन से पूर्णतया हो जाता है-

''मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है।[1]''

उपर्युक्त कथन के अनुरूप विनोबा जी पर वेदान्त विद्या के आधार ग्रन्थ गीता एवं उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु इसके साथ-साथ यह कह देना और न्याय संगत होगा कि उपनिषदों के ब्रह्म एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन विनोबा जी ने अपने स्वतन्त्र एवं नवीन दृष्टिकोण के आधार पर किया है। विनोबा जी ने अद्वैत दर्शन को पूर्ण रूप से प्रदान करने का प्रयत्न किया है। शांकर अद्वैतवादी की तरह विनोबा जी भी

---

1. विनोबा, उपनिषदों का अध्ययन, प्रस्तावना (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली)

ब्रह्म को सर्वोच्च तत्त्व मानते थे। विनोबा जी ने ब्रह्म शब्द का अर्थ विशाल एवं व्यापक किया है।[1]

अद्वैतवेदान्त की ब्रह्मरूपता को स्पष्ट करते हुए विनोबा जी का कथन है कि संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्मरूप होना ही मनुष्य का ध्येय है। इस तरह विनोबा जी के अनुसार व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का नाम ही ब्रह्म निर्वाण है। गीता दर्शन के आधार पर विनोबा जी का मत है कि वस्तुतः जीव ब्रह्मरूप है, परन्तु देह के पर्दे के कारण वह अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव नहीं करता। विनोबा जी के मतानुसार देह साधन तो है परन्तु साध्य नहीं। विनोबा जी जीवन्मुक्ति के पक्षपाती हैं। उन्होंने जीवन्मुक्ति के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है- मेरा तो ख्याल है कि मनुष्य इसी जवीन में ब्रह्मज्ञान व आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। परन्तु एक-दूसरे स्थल पर विनोबा जी ने कहा कि जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त करना सम्भव तो है किन्तु शरीर रहते हुए उसकी पूर्णता होना कठिन है। विनोबा जी का विचार है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होते ही शरीर छूट जाना चाहिए।

इस तरह विनोबा जी का सर्वोदय दर्शन भी उनकी अद्वैतनिष्ठा का ही परिणाम है। सर्वोदय दर्शन का मूलाधार 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' का भाव है। दादा धर्माधिकारी ने सर्वोदय के आशय को प्रंकट करते हुए कहा है- *'एक साथ समान रूप से सबका उदय हो यही सर्वोदय का उद्देश्य हैं।'*

भारतीय दर्शन, अद्वैतवाद की एकात्मता पर आधारित है, उसकी यह विशेषता रही है कि इस सार्वभौम दर्शन को प्रायः समस्त विश्व ने सराहा है तथा इसका अनुशीलन किया है। भारत में भी मुस्लिम, ईसाई एवं पारसी विचारकों ने इसका गम्भीरता से अध्ययन किया है।

---

1. विनोबा, स्थितप्रज्ञ दर्शन पृष्ठ 165 सस्ता साहित्य मण्डल (1956)

इकबाल सक्रिय आत्मवाद के समर्थक हैं। ये रुमी एवं नीत्से तथा वर्ग सॉं की विचारधारा से प्रभावित थे। काल आत्मा का व्यवहार क्षेत्र है। मनुष्य का जीवन चेतना की एक अनन्त लहर हैं, जिसमें सातत्य एवं शाश्वतता है, यह इकबाल की प्रमुख मान्यता थी। इकबाल की दार्शनिक समझ का यह पक्ष महत्त्वपूर्ण है, कि वे ईश्वर के प्रति प्रेम को ईश्वर का रूप देते थे। इकबाल ईश्वर भक्ति को ही सत्कर्म, सद्ज्ञान एवं उच्चादर्शों का प्रेरक मानते हैं। इकबाल ने दर्शन एवं विधिशास्त्र का अध ययन इंग्लैण्ड एवं जर्मनी में किया था। भारत में सैयद अबुल अला मौदूदी, सैयद अब्दुल लतीफ (हैदराबाद) अबुल हसन, अलीनदवी, जफरुलहसन, एम.एम. शरीफ, जैड़ ए. सिद्दीकी, खलीफा अबुल हसन, श्री वही दुद्दीन भी भारतवर्ष के प्रमुख मुसलमान दार्शनिक थे। किन्तु इन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव न होकर कुरान का ही प्रभाव था। आधुनिकतम दार्शनिकों में जिन पर भारतीय दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित कहा जा सकता है, श्री वहीदुद्दीन है। ये दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर अध्यक्ष रह चुके हैं। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय, हैदराबाद में भी ये दर्शन विभाग के प्रोफेसर थे।

आधुनिक युग के मुसलमान दार्शनिकों में के.बी.सईदान का नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने इकबाल के शिक्षा विषयक विचारों पर लिखा था। ये भारतीय शासन के शिक्षा सचिव रहे थे। उर्दू भाषा पर इनका विशेष अधिकार था।

ऊपर किए गए निर्देश से यह स्पष्ट है कि मुस्लिम विचारक भी भारतीय दर्शन की विशेषताओं से न्यूनाधिक रूप से प्रभावित थे। अतः भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा में उनका योगदान भी महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा का आरम्भ वैदिक दर्शन से आरम्भ हांकर ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, चार्वाक दर्शन, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, वैष्णव दर्शन, शैव दर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन, रसेश्वर दर्शन, गाणपत्य दर्शन, स्कन्द सिद्धान्त, सौर्य सिद्धान्त, शाक्त सिद्धान्त एवं आधुनिक युग की चिन्तन धारा के अन्तर्गत रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, महर्षि रमण, के.सी. भट्टाचार्य, जे. कृष्णमूर्ति, रामतीर्थ, एनी बेसेन्ट एवं सिस्टर निवेदिता की दार्शनिक विचारधाराएँ ही भारतीय दर्शन के समस्त स्वरूप को उपस्थित करती हैं। इनकी समस्त विचारधाराएँ एक दूसरे की पूरक हैं। निदर्शनार्थ यदि न्याय वैशेषिक में प्रमाण-प्रमेय पदार्थ चिन्तन है तो सांख्य में प्रकृति पुरुष का चिन्तन भी वर्तमान है एकं योगं च सांख्यं च। इसी तरह पूर्व मीमांसा में जिस कर्मकाण्ड एवं आचार शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है उसमें सांख्य में सूत्र वर्तमान थे। जहाँ उत्तर मीमांसा का प्रश्न है, यह सभी दर्शनों का उपसंहृत रूप है। इसमें न्याय तथा वैशेषिक का प्रमाण प्रमेय चिन्तन भी अपेक्षित है तथा सांख्य योग का प्रकृति पुरुष चिन्तन एवं निदिध्यासन भी। इसी तरह मीमांसा का आचार एवं उपासना पक्ष भी वेदान्त सम्मत मोक्षाभिप्राय से चित्त शुद्धि के लिए अपेक्षित है। इस तरह विकासोन्मुख भारतीय दर्शन की यह विशेषता कही जा सकती है कि वह किसी ऐसे धर्म व दर्शन के समान नहीं है जिसके कट्टरपंथी अनुयायी लकीर के फकीर होकर अन्धानुकरण मात्र करते हैं। वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन का शिरोमणि है किन्तु वैष्णव दर्शन के रूप में

उसकी प्रतिक्रिया भी दर्शनीय है। इस तरह दार्शनिक प्रतिक्रिया एवं विकास का यह क्रम आज तक चला जा रहा हैं। यह क्रम भारतीय प्रतिभा की गतिशीलता विकासोन्मुखता एवं चिन्तन की स्वतन्त्रता का द्योतक है। यही वजह है कि भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा समयानुकूल परिवर्तित होती रही है। इतना ही नहीं, यहाँ व्यास एवं वाल्मीकि के उपदेश भी समय-सन्दर्भ के अनुसार पुनः-पुनः विचारशील होते हैं। यह भारतीय मनीषा का व्यापक दृष्टिकोण है। भारतीय षड्दर्शन की मौलिकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि गौतम, कणाद, कपिल, पंतजलि, जैमिनि एवं वादरायण व्यास ने न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्र, मीमांसा सूत्र एवं ब्रह्मसूत्र का प्रणयन नितान्तस्वतन्त्र रूप से किया था।

वस्तुतः यदि सत्य कहा जाए तो यह प्रायः निश्चित ही है कि उपनिषदों के षड्दर्शन के बीज अवश्य वर्तमान थे। जहाँ तक नास्तिक दर्शनों की बात है षड्दर्शन के समान क्रिया-प्रतिक्रिया एवं पूर्वापर पृष्ठभूमि का स्वरूप वहाँ भी अवेक्षणीय है। चार्वाक दर्शन की भौतिकता उपनिषदों के अध्यात्मवाद की घोर प्रतिक्रिया थी। इसी तरह सम्यक् आचारवादी बौद्ध एवं जैन दर्शन भी उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हुए थे। इस तथ्यका उद्घाटन आवश्यक है कि बौद्धों के अनात्मवाद का आधार उपनिषदों का 'नेति नेति' का विचार था। यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि बौद्धों के सिद्धान्त का प्रेरणा-स्रोत वैदिक सिद्धान्त ही है। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का भी आधार औपनिषद आत्मवाद ही है। इसी तरह शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध न कहकर बुद्ध को ही प्रच्छन्न आत्मवादी कहना चाहिए।

शंकराचार्य ने चार मठों की स्थापना करके भारतवर्ष को सांस्कृतिक सूत्र में ग्रथित करने का सफल प्रयास किया था। शंकराचार्य की इस दार्शनिक विचारधारा के अतिरिक्त उनके प्रस्थानत्रयी भाष्य की प्रसन्न गम्भीर शैली प्रतिपाद्य विषय का सुगठित एवं सुस्पष्ट विशदीकरण पूर्वोत्तरपक्ष पद्धति तथा सरल व्यावहारिक संस्कृत भी उनके महान् दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचायक है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विश्व में शंकराचार्य जैसे सार्वभौम दार्शनिक आज तक नहीं हुए। यह शंकर दर्शन की सार्वभौमिकता एवं सैद्धान्तिक व्यापकता के कारण ही है कि शाङ्कर वेदान्त का अनुशीलन प्रायः समस्त विश्व में उत्सुकता के साथ किया गया है। इसके अलावा शोपेनहार, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्निस्, वर्कले, काण्ट, फिकते, शेलिंग, हेगल, वर्गसा एवं ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्यों के अनेक दाशनिक विचार समान हैं। इससे एक ओर जहाँ, वेदान्तदर्शन की व्यापकता सिद्ध होती है, वहीं दूसरी ओर इन पाश्चात्य विद्वानों की दार्शनिक दृष्टि पर वेदान्त की चिन्तनधारा का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। औपनिषद् वेदान्त का प्रभाव किसी न किसी रूप में न्याय वैशेषिक, सांख्य योग एवं पूर्व मीमांसा पर भी परिलक्षित होता है। षड्दर्शन के समन्वयात्मक बोध की दिशा में यह कहना भी समीचीन होगा कि सर्वोच्च सत्ता ईश्वर, कार्यकारणवाद, जगत्, कर्म एवं मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त सभी दर्शनों में विवेचित मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी षड्दर्शनों का लक्ष्य एक (मोक्ष) ही है। यह बात दूसरी है कि इनकी विचार पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं तथा इन सभी का स्वतन्त्र महत्त्व स्पष्ट है।

प्रत्येक दर्शन की मूल चिन्तन दृष्टि के सम्बन्ध में विचार करते समय यह देखा गया है कि क्रिया-प्रतिक्रिया एवं पूर्वापर पृष्ठभूमि प्रत्येक दर्शन के स्वतन्त्र विकास में अनिवार्य रूप से कारण रही है। यह तर्क तथ्य वैष्णव, शैव एवं शाक्त दर्शन के सम्बन्ध में ही चरितार्थ होता है। निदर्शनार्थ वेदान्त के प्रतिपाद्य निर्गुण एवं परमार्थ ज्ञान की प्रतिक्रिया ज्ञान के परिणाम स्वरूप ही सगुण भक्तिपरक वैष्णव दर्शन का विकास हुआ था। सामान्य व्यक्ति के लिए वेदान्त कुछ कठिन अवश्य था। यह भी एक कारण था कि सामान्य व्यक्ति की जिज्ञासा वेदान्त के ब्रह्म ज्ञान से विमुख होकर भक्ति की ओर केन्द्रित हुई। इसी तरह शैव दर्शन के विकास के मूल में भी वैष्णव दर्शन की प्रतिक्रिया ही प्रधान थी। जैसा कि कहा जा चुका है कि वैष्णव धर्म का साधक रामकृष्ण की श्रृंगार परक लीलाओं रास लीलाओं एवं श्रृंगारिक क्रीड़ाओं में इतना रस आया था कि उसकी दृष्टि से लोकमंगल का भाव प्रायः उपेक्षित सा हो गया था। इतना ही नहीं सखी भाव के अन्तर्गत कृष्ण का स्थान राधा ने ले लिया था। शैव सिद्धान्त का विकास शिव एवं शक्ति के सामरस्य के रूप में हुआ था। शिवशक्ति सामरस्य के अनुसार शिव शक्ति के बिना शव मात्र है। तदनुसार शक्ति के उपासकों की जीवपद्धति एवं उद्देश्यों में अन्तर आया हो।

(३) उपनिषद् चिन्तन और दर्शन दृष्टि :-

भारतीय वाङ्‌मय अत्यन्त विशाल एवं व्यापक दृष्टिवाला है। समस्त विश्व वाङ्‌मय में भारतीय वाङ्‌मयका महत्त्व सर्वोपरि है। इस वाङ्‌मय ने विश्व सभ्यता को आदर्श 'आचार-संहिता' प्रदान की है। भारतीय वाङ्‌मय ने जवीन के विविध पक्षों को नए आयाम दिए हैं। मानव को नैतिकता एवं उसके श्रेष्ठ विकासपरक विचारों से अवगत कराया है। भारतीय वाङ्‌मय में वैदिक साहित्य सर्वश्रेष्ठ एवं विश्व समादृत है। यदि ऋग्वेद एक अपौरुषेय विलक्षण विश्व स्रष्टा ग्रन्थ है तो उपनिषद् भी उसी की तरह वैदिक वाङ्‌मय की कुचिका है। उपनिषदों ने मानव को विशिष्ट ज्ञान राशि प्रदान की है। गुरू के समीप बैठकर अपने अज्ञाना-न्धकार को दूर करने एवं जीवन साफल्य परक ज्ञान को हस्तामलकवत् उपलब्ध कराने में जो उपनिषदों ने योगदान किया उसे कोई भी अध्येता विस्मृत नहीं कर सकता। दर्शनशास्त्र ने उपनिषद् के बल पर ही अपना ढाँचा खड़ा किया तथा विश्व साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया।

दार्शनिक दृष्टि उपनिषदों की ही देन हैं। दर्शन कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं हैं। यदि दर्शनशास्त्र से उपनिषदों को अलग कर दिया जाए तो वह माया, जीव, जगत्, ब्रह्म आदि का स्वरूप नहीं कह सकेगा। इसके बिना उसकी प्रामाणिकता भी समाप्त हो जाएगी। अतः उपनिषद् ग्रन्थ, दार्शनिक दृष्टि के मूल में हैं।

सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी दर्शन हैं। प्रकृति मूल तत्त्व है। इसी से महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, एकादशेन्द्रिय पंचमहाभूत आदि सम्बद्ध हैं। यह सांख्य दृष्टि उपनिषदों से ही गृहीत है। सांख्याचार्य कपिल की यह स्वतः उद्भावित दृष्टि नहीं हैं। 'अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'[1] इस उपनिषद् वचन में सांख्य

---

1. श्वेत. 3/5/4

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का दर्शन हो जाता है। इसी तरह सांख्य पुरुष का दर्शन 'असंगों हययं पुरुषः'[1] इस उपनिषद् वचन में हो जाता है। सांख्य सत्यकार्यवाद की प्राप्ति सदेव सौम्य 'इदमग्रे आसीदेकमेवाद्धितीयम्'[2] आदि वचनों से हो जाती है। उपनिषदों का परिणामवाद ही सांख्य परिणामवाद का मूल बीज है।

सांख्यदर्शन के प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् गार्वे[3] का मत है कि सांख्यदर्शन उपनिषदों के 'प्रज्ञानाद्वैतवाद' की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। सांख्यदर्शन, द्वैतवाद का समर्थक एवं भौतिकवाद का अनुयायी है। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने भी औपनिषद दर्शन एवं सांख्यदर्शन के मध्य भेद रेखा को स्पष्ट करते हुए यह तथ्य उजागर किया है कि कठ-उपनिषद् का विशुद्ध निर्गुणवाद एवं श्वेताश्वतर उपनिषद् वर्ती सेश्वरवाद सांख्य विचारधारा से मूलतः भिन्न है। इस तरह सांख्यदर्शन को औपनिषद दर्शन कहना समुचित नहीं माना जा सकता। कुछ लोग पुराणों एवं महाभारत में सांख्यदर्शन का विकास देखते हैं।

अद्वैतवेदान्तीय दार्शनिक दृष्टि के सन्दर्भ में उपनिषद् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित है। वेदान्त में आत्म सिद्धि का आधार उपनिषद् हैं। ब्रह्म स्वरूप तो वेदान्तीय ही है। उपनिषद् दर्शन के अनुसार गौडपादाचार्य विश्व तैजस् एवं प्राज्ञ को आत्मा के विभिन्न रूपों में स्वीकार न करके एक ही स्वीकार करते हैं।

---

1. बृह. उप. 4/3/15
2. छान्दो. 6/2/1
3. सांख्य निबन्ध– Encyclopardia of Religion and Ethies. Vol XI Page- 189

आत्मा सम्पूर्ण उपनिषदों का सार तत्त्व है। उपनिषदों में अलग-अलग मुनियों की दार्शनिक दृष्टि है। कुछ ब्रह्म को सगुण व कुछ निर्गुण निराकार निष्प्रपंच मानते हैं। कुछ ऋषि उसे सगुण साकार सप्रपंच और उपाधियुक्त मानते हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित है कि मानव बुद्धि ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकती। बुद्धि के सोपान पर ब्रह्म का सगुण रूप ही ज्ञात होगा। आध्यात्मिकता की उच्च कोटि पर जब हम पहुँच जाते हैं तब बुद्धि की कोटियों का अतिक्रमण कर जाते हैं तब हमें ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप ज्ञात होता है। यही ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप हैं। इस तरह ब्रहम अपने आप में निर्गुण है।

उपनिषदों के विभिन्न कथन विरोधी नहीं है। प्रो. विन्टर निट्ज ने सम्पूर्ण औपनिषदिक दर्शन का सार एक वाक्य में प्रतिपादित किया है। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है, परन्तु ब्रह्म आत्मा है।

ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रार्थना के अर्थ में हुआ है। परन्तु उपनिषदों में इसका अर्थ बदल गया। ब्रह्म वह है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि व आत्माओं की उत्पत्ति हुई हो।

ब्रह्म समस्त विश्व का निमित्त व उपादान कारण हैं। वह स्वयं विश्व का निर्माण करता है। उसे अन्य किसी उपादान की जरूरत नहीं होती। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म असीम है, वह विश्व भी असीम है। असीम ब्रह्म से असीम विश्व की उत्पत्ति हुई है।

इस तरह उपनिषदों को ही आधार बनाकर दार्शनिकों ने उनके विचारों को विभिन्न दृष्टियों से लेकर उनका पल्लवन किया। यह भी नहीं कहा जा सकता कि समस्त दर्शनों के विचार अक्षरशः उपनिषदों में प्राप्त है। वस्तुतः विभिन्न दार्शनिकों का चिन्तन जितना भी वह मौलिक एवं गहन है। उपनिषदों की ब्रह्म एवं आत्म विषयक मान्यता के अस्तित्व एवं नास्तित्व के बीच में ही दार्शनिक दृष्टि अवस्थित है। कुछ दार्शनिकों ने उपनिषदों की विचारधारा का खण्डन भी किया तथा कुछ ने मण्डन किया एवं कुछ चिन्तकों ने कुछ उनसे हटकर अलग ही विचार किया। इस तरह यही कहा जा सकता है कि दार्शनिक चिन्तकों ने भले ही उपनिषदों की मान्यता का आधार लिया हो लेकिन समस्त दार्शनिक चिन्तन पूर्णतः उपनिषदों से प्रभावित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सांख्य न्याय-वैशेषिक आदि का चिन्तन मौलिक व बड़ा ही तत्त्व विवेचक हैं।

(४) उपनिषदों में मोक्ष का स्वरूप :-

उपनिषद् वेदमूलक ग्रन्थ हैं। उपनिषद् चिन्तन से वेदों का तात्विक अर्थ अवगत होता है। वेदाध्येता उपनिषदों के माध्यम से ही वेदों का तात्पर्य यर्थाथतः जान सकता है। उपनिषदों में मुक्ति मोक्ष सम्बन्धी विचार स्फुटरूप में अभिव्यक्त हैं। मुण्डक-उपनिषद् में कहा गया है कि जो उस पर ब्रह्म को जानता है- वह ब्रह्मरूप हो जाता हैं।[१] मुक्त पुरुष का लक्षण छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जिस तरह पुष्कर पलाश[२] का जल स्पर्श नहीं करता उसी तरह आत्म ज्ञानी को पाप स्पर्श नहीं करता। मुक्त पुरुष का वर्णन करते हुए वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जैसे सर्प अपनी निर्जीव त्वचा को त्याग देता है तो वह किसी वाँवी के ऊपर पड़ी रहती है, उस समय उसकी रक्षा का प्रयत्न नहीं करता है। और न ही उसे पुनः ग्रहण करना चाहता है। इसी तरह ज्ञानी का शरीर उससे असम्बद्ध रहता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष शरीररहित और मरणधर्म रहित होता है।

ईशोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञान से अमृत को प्राप्त करता हैं। जब वह ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वह उसकी पराकाष्ठा ही है। वैयक्तिक और समष्टिगत भावना की तुलना करते हुए कहा गया है कि जो वैयक्तिक भावना से ऊपर उठकर समाज को प्रमुखता देता है अर्थात् उस परमेश्वर को जानने तथा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सम्भूति अर्थात् 'इदं न मम' की भावना से ओत-प्रोत होता हुआ समाज के लिए अपना जीवन समर्पित कर देता हैं। तभी उस समष्टिगत ज्ञान से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान की इस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को अपने पराये भेद का ज्ञान नहीं रहता। इस उपनिषद् में मोक्ष के स्वरूप को अमृतमय बतलाया गया है जिसका अभिप्राय हे कि वह अमृत को प्राप्तकर उस कल्याणतम

---

1. श्वेता. 30 4/10
2. छान्दो. 30 4/14/3
3. विद्ययाऽमृतमश्नुते ई. उ 0
4. सम्भूत्याऽम्रतमश्नुते ई. उ. पृ. 24

ईश्वर के दर्शन कर लेता है अर्थात् उसके आनन्द में रहता है। जब जीवन मुक्तावस्था में उस ब्रह्म के तेज को देखता 'सोऽहमस्मि' पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ स्थूलरूप में देखने से ज्ञात होता है कि वह परमात्मा मैं हूँ। यही अर्थ आचार्य शंकर आदि को अभीष्ट है। वह ब्रह्म था बस यही ज्ञान होता है 'मैं ब्रह्म हूँ' परन्तु इस पर आपत्ति यह है कि जब यहाँ वह ब्रह्म है तो इसका ज्ञान हो गया तो यह वह क्यों कहता है कि मैं उस कल्याणतमं पश्यामि[1] पुरुष को देखता हूँ। देखना तो पृथूक सत्ता रखने पर ही हो सकता है। वस्तुतः यहाँ पर यह प्रतीत होता है कि जब मनुष्य अज्ञान आदि के कारण शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि को मैं रूप में जानता है तो अज्ञान दूर हो जाने पर अपने तेज और परमेश्वर के तेज को देखकर कहता है कि जैसे ईश्वर जड़ रहित चैतन्य स्वरूप है ऐसे ही मैं भी चेतन स्वरूप हूँ उसे तादातम्य सा प्रतीत होने लगता है। वह अवस्था तभी सम्भव है जब वह परमात्मा के अपहृत पामादि धर्मों को धारण कर लेता है। लोक में भी वह व्यवहार सिद्ध है कि अति प्रेम होने पर अभेद सा प्रतीत होने लगता है। यहाँ उपनिषद्कार को यह अद्वैतवादी सिद्धान्त अभीष्ट होता तो आगे के दो मन्त्रों में यह प्रार्थना जीव आत्मा से न करता। हे! ज्ञान स्वरूप परमात्मा मुझे सुपथ पर ले जाना।[2] ओम् का स्मरण करने का उपदेशन दिया जाता।[3] जब वह स्वयं ब्रह्म है तो स्मरण किसका?

केनोपनिषद् में मोक्ष को अमृत रूप में माना गया है। धीर विद्वान् ज्ञानी लोग समस्त पदार्थों को छोड़कर जो स्रोत का स्रोत, मन का मन, परमेश्वर है उसको जानकर अमृतावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।[4] उस मोक्षावस्था में चक्षु आदि का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् ये इन्द्रियाँ स्थूलरूप में वहाँ नहीं जाती है।[5] कुछ विद्वान् अमृत का

---

1. कल्याणतमं तत् ते पश्यामि। ईशो. 16
2. ईश. उप. 17/13
3. केन. उ. प्रथम खण्ड मं. 21
4. न तत्र चक्षुर्गच्छति केन वहीं मं. 3
5. के. उप. खण्ड चतुर्थ मन्त्र 34

अर्थ मोक्ष न मानकर अन्यथा अर्थ करते हैं, उनका खण्डन स्वयं उपनिषदकार यह कहकर कर सकता है कि वहाँ चक्षु आदि का भी गमन नहीं है। केनोपनिषद् में मोक्षावस्था के लिए स्वर्ग शब्द का भी प्रयोग हुआ है। स्वर्ग पद का प्रयोग होना इस ओर संकेत करता है कि उस अवस्था में सदा रहने वालों को आनन्द प्राप्त होता है।[१] कठोपनिषद् में भी कहा है कि वहाँ स्वर्गलोक में जाए और मृत्यु कभी नहीं प्राप्त करता है अपितु एक रस रहने वाला आनन्द को प्राप्त होता है।[२] इस मन्त्र में शोकातिग् कहकर दुःखों की निवृत्ति का भी संकेत मिलता है। मोदते से आनन्द का संकेत मिलता है। स्वर्ग लोक से सुख विशेष की अवस्था का अभिप्राय जीवन्मुक्तावस्था से है। जीवन्मुक्तावस्था मोक्ष में जीवात्मा चला जाता है। भूख प्यास से रहित और पूर्णतः भय से रहित मोक्ष के बिना सम्भव नहीं है। उपनिषत्कार का कथन है कि वह मृत्यु के पाशों को काटकर शोक से पार होकर स्वर्ग लोक में आनन्दमय रहता है।[३] यहाँ उपनिषद्कार ने द्वितीय वर के द्वारा यज्ञाग्नि जो आध्यात्मिक यज्ञाग्नि है उसके द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का अभिधान किया है। जब जीवात्मा पूर्णतः शुद्ध हो जाता है तो उस मोक्ष पद को प्राप्तकर जो मृत्यु के बादजन्म लेता था वह जन्म ग्रहण नहीं करता है।[४] उक्त मार्ग का अनुसरण करते हुए उस मोक्ष मार्ग को पारकर उसविष्णु व्यापक परमेश्वर के धाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस तरह उपनिषद् दृष्टि में जीवात्मा का सर्वोच्च्व पद मोक्ष ही है। यह मोक्ष चिरस्थाई है। यद्यपि मोक्ष शब्द का प्रयोग उपनिषदों में कम हुआ है फिर भी विमुक्तः, मुच्यते, परिमुच्यते आदि का बहुल प्रयोग हुआ है। मोक्षावस्था में स्थूल इन्द्रियाँ नहीं रहती।[५] मोक्षावस्था में मनुष्य निरन्तर रहने वाले सुख को प्राप्त कर लेता है। मुक्ति में केवल दुःखाभाव ही नहीं होता अपितु विधेयात्मक सुख विशेष की उपलब्धि होती है।

---

1. स्वर्गे लोके न भयं त्वं न जरा बिभेषि शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके कठ.उप. चतुर्थ ख. 12
2. स मृत्यु पाशान् पुरतः प्रणो मोदते स्वर्गलोके कठ. 18
3. तत्पदमाप्नोति यस्माद् भयो न जायते कठण 13, 8
4. कठ. 3, 10,11
5. न तत्र सूर्यो भाति न वाचा न मनसा कठ. 5, 15, 6, 12

मुण्डक उपनिषद् में मोक्ष के विषय में कहा गया है कि वह जीवात्मा जब पुण्य प्राप्त मोह जाल को समाप्त कर लेता है तब वह साधकनिरञ्जन परमात्मा को प्राप्त कर परम साम्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1]

उपनिषदों में 'ब्रह्मधाम्' शब्द का प्रयोग मुक्ति के लिए किया गया है।[2] ब्रह्मनिष्ठ लोग मोक्ष में अर्थात् ब्रह्म लोक में परान्त काल तक रहते हैं। यहाँ परान्त काल तक कहकर स्पष्ट रूप में प्रतिपादित है कि जीव ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता हुआ ब्रह्म में विचारता रहता है और ब्रह्मानन्द का अनुभव करता रहता है। जब वह आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब वह सभी तरह के अपने नामों से रहित हो जाता है। अर्थात् लोक में जो नाम है, उनसे मुक्त होकर परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है। जैसे गंगा यमुना आदि नदियाँ समुद्र में जाकर यमुना आदि नामों से नहीं कहीं जातीं, उसी तरह मोक्ष में जीवात्मा की सत्ता नहीं रहती।

छान्दो. उप. में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जो परमात्मा अपहृत सब पाप जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा पिपासा से रहित है उसे जानना चाहिए, जो ऐसे परमात्मा को जान लेता है, उस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों व सब कामों को प्राप्त होता है।[3]

अद्वैतवादी दार्शनिकों की यह भी मान्यता है कि मुक्ति में जीव ब्रह्म हो जाता है। जीवात्मा में आनन्द की न्यूनता है उसी को उपलब्ध करने हेतु वह परमेश्वर का सान्निध्य करता है क्योंकि वह सर्वानन्द से परिपूर्ण है। जीवात्मा उसे प्राप्त कर अपनी सम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर का आनन्द असीम व अनन्त है। इसीलिए यह जीवात्मा अल्पज्ञ होने की वजह से उसके अनन्त आनन्द को तो नहीं जान पाता, परन्तु उसको जितना चाहिए वह उसे प्राप्त कर लेता है।

आचार्य शंकर का मत कुछ उपनिषदों से भिन्न प्रतीत होता है। इस मत के अनुसार मुक्ति अवस्था में जीवात्मा में वह शक्ति

---

1. निरज्जनः परमं साम्यमुपैति मुण्डकः. उप. 3, 1, 3
2. जुष्टस्तेनामृत्वमेति मुण्डक 3. 3/1/3 श्वेत. 116
3. सर्वान् कामान् सद्ब्रह्मणाविपाश्चतेति तै. ब्रा. व. 2. 10

नहीं आती, जो ब्रह्म में है। जब जीव ब्रह्म ही बन जाता है तो फिर यह अन्तर किस तरह रहता है, क्योंकि स्वयं आचार्य शंकर कहते हैं कि मुक्त आत्माएँ सब तरह से ऐश्वर्य को प्राप्त करते हुए भी जगत् की उत्पत्ति आदि का सामर्थ्य उनको प्राप्त नहीं होता है क्योंकि सृष्टि कर्तृत्वादि तो नित्य ईश्वर के ही सिद्ध हैं।[१]

अतः उपनिषदों के यर्थाथवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा जब अमृत बन जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है तब अपने परम विकास को प्राप्त करता हुआ, कामाचारी होता हुआ अपने प्रलय को प्राप्त नहीं होता अपितु अपनी विकासमान अवस्था को प्राप्त होकर मुक्ति सुख को प्राप्त करता हुआ सर्वत्र रमण करता है। यही उपनिषदों का मुक्ति स्वरूप के विषय में सर्वोत्तम सिद्धान्त प्रतीत होता है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन :-

उपनिषदों में मोक्ष के साधनों पर पर्याप्त विचार किया गया है। इनमें विधेयात्मक और निषेधात्मक दो तरह के साधन होते हैं। जिनका साधकों को अनुष्ठान करना पड़ता है वे विधेयात्मक साधन होते हैं निषेधात्मक साधनों में मल-विक्षेप आवरण आदि को क्षीण करना पड़ता है। न करने योग्य कर्मों को छोड़ना निषेधात्मक साधन है। दोनों तरह के साधनों को करने के लिए श्रवण, मनन निदिध्यासन और साक्षात्कार जिसको श्रवण चतुष्टय कहते हैं इनका पालन ध्यानपूर्वक करना चाहिए। ध्यान पूर्वक गुरु का उपदेश सुनना, सुनकर उस पर मनन करना, मनन के पश्चात्, जिसे सत्य समझो, उसके अनुसार आचरण करना। इस प्रक्रिया से साधक तत्व ज्ञान तक पहुँचकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

विद्या तथा अविद्या में विद्या से साधक मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहाँ आचार्य शंकर और ऋषि दयानन्द ने विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म किया है। अर्थात् कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पारकर विद्या अर्थात् ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त करता है। सांख्य में इसी ज्ञान को विवेक कहा है। योगदर्शन भी उसका समर्थन करता हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाने पर ही आत्मा मुक्ति का प्राप्त करता हैं।

---

1. जगद्व्यापारवर्ज प्रकरणाद् संनिहितत्वाच्च (वेद द. 2, 2, 4, 4,17 भाष्य)

ईशोपनिषद् विद्या और अविद्या का समन्वय करती है, क्योंकि केवल कर्मों के अनुष्ठान से ही तमोयुक्त अन्धकार को प्राप्त करता है, परन्तु यदि ज्ञानी का क्रियात्मक जीवन आचरण शून्य हो तो वह उससे भी अधः अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए उचित ही कहा है कि धर्मज्ञान के लिए और ज्ञान धर्म के लिए हैं। ज्ञान और कर्म का समन्वय उपनिषदों के अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।

अनेक जन्म के अभ्यास और तपस्या के पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है। मुक्ति काल तक जीवात्मा मोक्ष में रहकर वापस संसार में लौट आता है। उनकी इस विचारधारा को नवीन विचारधारा माना है। मुक्ति से जीवात्मा वापस लौट आता है इस विषय में सबसे पहले जीव के स्वभाव पर विचार करना होगा। जीवात्मा का स्वभाव गतिशील है। यदि उसे एक ही स्थान पर स्वीकार किया जाए तो विकासशील स्वभाव की स्थिति कैसी होगी?

वैशेषिक दर्शन में भी मोक्ष का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि पाप और पुण्य न रहने पर शरीर का अनादि संयोग आत्मा से न रहने पर मोक्ष कहा जाता हैं।[1] इसी तरह योगदर्शन में भी लक्षण प्राप्त होता है। इन दोनों सूत्रों से मुक्ति से लौटकर जीवन नहीं आता।[2]

जीवात्मा और परमात्मा के सामर्थ्य में अन्तर स्पष्ट है। परमात्मा अविद्या दुःखादि के बन्धन में कभी नहीं आता परन्तु जीवात्मा तो अविद्यादि बन्धन में बार-बार आता है। इस तरह जीवात्मा मुक्त होने पर भी अनन्त सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता। अतः ईश्वर सदृश जीवात्मा कभी नहीं हो सकता।

वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार मुक्त जीव ब्रह्म लोकों में विचारते हैं उनकी संसार में आवृत्ति नहीं होती।[3] जीवात्मा वहाँ से लौटकर नहीं आते। आचार्य शंकर स्पष्ट कहते है कि अनेक वर्ष पर्यन्त मुक्त आत्मायें ब्रह्म लोक में निवास करते हैं।

---

1. यो. प. 2, 25
2. सदैवेश्वर सदैव मुक्त इति, यो. द.। 24, व्यास भाष्य
3. ते तेषु ब्रह्म लोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः बृ. 6, 1, 15

छान्दोग्योपनिषद् में भी स्पष्ट है कि मुक्ति से जीवात्माऐं वापस नहीं लौटती। संसार में घण्टी यन्त्र के समान जन्म मरण का चक्र चलता रहता है। तब तक उनका यहाँ लौटना नहीं होता जब तक वे ब्रह्मलोक में स्थित रहते हैं।

इस तरह उपनिषदों की मोक्ष विषय मान्यता से स्पष्ट है कि मोक्ष मानव जीवन की वास्तविक चरमावस्था है। यही उसकी सत्य शिव एवं शुभ संकल्प की अवस्था है। ब्रह्मानन्द से महान् आनन्द कोई भी नहीं है। मोक्ष में जीवात्मा की सत्ता समाप्त हो जाती है। वह ब्रह्ममय हो जाता है। उपनिषदों का मोक्ष सिद्धान्त मानव को इस दुःख-बाधा क्लेश बहुल जीवन से छुटकारा दिलाना चाहता है। आज उपनिषदों का अध्ययन बहुत कम हो रहा है। कुछ उपनिषद् वाक्यामृत का प्रयोग जरुर देखा जाता है। उपनिषद् तत्त्व का रहस्य उपनिषदों में छिपा हुआ है। मैं तो यही कहना चाहूँगी कि समस्त मानव उपनिषद् की राह पर चलें, उनमें प्रतिपादित मोक्षमार्ग पर अग्रसर हों, अपने जीवन को सफल शान्त ब्रह्मानन्द मय बनायें।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

(१) आस्तिकता की परिभाषा और नास्तिकता से उसका साम्य वैषम्य :-

चाहे किसी भी विषय का कोई सिद्धान्त हो, उसका अपने प्रतिवादी सिद्धान्त से सम्बन्ध अवश्य रहता है। वादी, प्रतिवादी के बिना अपनी प्रतिष्ठा साबित नहीं कर सकता। इसी तरह प्रतिवादी (निषेधात्मक) सिद्धान्त भी वादी के बिना एकाकी कुछ नहीं कर सकता। दोनों किसी एक ही विषय को केन्द्र बिन्दु बनाकर उस पर वाद-विवाद करते हैं तर्क करतें हैं तथा बुद्धि कौशल से अपने आपको जमाना चाहते हैं। वैसे वस्तुतः यदि यथार्थ कहा जाए तो दोनों ही हठी आग्रही एवं स्वाभिमानी होते हैं। एक ही विषय की परिधि में अपने अनुभव तथा ज्ञान से तक-वितर्क करते हैं। कहीं किसी अंश पर सहमति बन जाती है तो कहीं असहमति भी बन जाती है। कभी-कभी दोनों कुछ दूरी बनाकर अपने आपको अलग साबित करना चाहते हैं तो कहीं अलग-अलग स्थानों पर बैठकर भी एक स्वर से एक जैसे उद्घोष करते हैं। अतः दोनों विरोधी विचारधाराओं में कुछ अंशों में साम्य एवं कुछ अंशों में वैषम्य होना स्वाभाविक ही है। इसी साम्य वैषम्य के कारण शास्त्रीय विचारों के आनन्त्य से अनेक शास्त्रों की रचना हुई। फलतः इतने शास्त्र हो गए कि आज उन शास्त्रों की एक-एक पुस्तक को अक्षरशः कोई भी पाठक अपने जीवन में पढ़ नहीं सकता। जितना शास्त्रीय गाम्भीर्य करीब अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी तक के रचित ग्रन्थों में देखा जाता है उतना तदुपरान्त रचित ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। संस्कृत वाड्मय विश्व में सबसे प्राचीन वाड्मय हैं, इसमें भारतीय विद्वान ही प्रमाण नहीं हैं, बल्कि विदेशी विद्वानों का संस्कृत साहित्यगत अनुशीलन भी प्रमाण के रूप में विद्यमान है। विदेशी विद्वानों में मैक्समूलर-कीथ-सर विलियम जोन्स आदि अनेक

विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से संस्कृत साहित्य की प्रशंसा की है। पाणिनि का स्थान उसके बाद किस विद्वान् ने प्राप्त किया। कालिदास जैसी कोमलकान्त पदावली की रचना फिर कौन कर सका। इसी तरह दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में कपिल, गौतम, पंतजलि, कणाद, जैमिनि, शंकराचार्य आदि आस्तिक दर्शनों के प्रतिष्ठापक विद्वानों का स्थान कोई भी परवर्ती विद्वान् नहीं ले सका। इसी तरह अन्य शास्त्रों के शास्त्रकारों के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए। प्राचीन विद्वानों के ग्रन्थों का अनुशीलन परवर्ती विद्वानों ने बड़ी गहनता से करके उन पर भाष्य टीका व्याख्यायें की तथा साथ ही कुछ अपने अनुकूल तथा कुछ प्रतिकूल विचारों को भी जोड़ दिया। इससे शास्त्रीय विचारों में बाढ़ सी आ गई। स्वातन्त्र्योत्तरवर्ती विद्वानों ने भी उस कड़ी में अपने आपको जोड़ने का प्रयास भी किया किन्तु वे उस कोटि तक नहीं पहुँच सके। अधिकांश विद्वानों ने पिष्ट पोषण ही किया किन्तु वे किसी मौलिक नयी विचार धारा के स्रष्टा नहीं बन सके। इसके बावजूद भी अनवरत संस्कृत वाङ्‌मय की आराधना आज इस वैज्ञानिक तकनीकी तथा राजनैतिक वातावरण में संस्कृत विद्वानों के द्वारा की जा रही है। राजा भोज के काल में जहाँ किसी जुलाहे (कुविन्द) ने राजा भोज के समक्ष संस्कृत कविता के द्वारा अपनी काव्य प्रतिभा का कौशल प्रदर्शित किया था।

काव्यं करोमि न हि चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपाल मौलिमणिमण्डित पादपीठ।
हे साहसाङ्क! कवयामि वयामि यामि।।[1]

उसने कहा था कि काव्य बनाता तो हूँ किन्तु बहुत अच्छा नहीं। यत्नपूर्वक यदि बनाता हूँ तब बहुत अच्छी कविता कर लेता हूँ। आप जैसा आदेश करें कविता कहूँ या कपड़ा जाकर बुनूँ या फिर अपने घर चला जाऊँ। ऐसा डिण्डिम घोष छोटी जाति के लोग भी करते थे। संस्कृत वातावरण की व्यापकता

---

1. भोजप्रबन्ध, भोजदेव

का श्रेष्ठ उदाहरण हो सकता है। अतः इसी से संस्कृत वाङ्‌मय बहुत विशाल हो गया और उसमें गोता लगाने वाले आज कम दिखाई दे रहे हैं। जितने थोड़े लोग आज हैं भी तो वे अपने-अपने ढ़ंग से अपनी आवश्यकता के हिसाब से संस्कृत अध्ययन करते हैं। इससे वे शास्त्रीय साम्य-वैषम्य को कहाँ तक परख सकते हैं।

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में भी यही उपर्युक्त स्थिति है। आस्तिक दर्शनों ने यदि ईवर, ब्रहम, प्रकृति, कर्म, कर्ता आदि पर जोर दिया तो वहीं अवैदिक दर्शनों ने अपनी श्रेष्ठता कायम करने हेतु इनका खण्डन करके इनके विकल्प की पूर्ति, चित्त, चैतसिक विज्ञान, शून्य तत्त्व आदि से की। पुनर्जन्म कर्मवाद, आदि विषयों पर दोनों दर्शनों में यदि साम्य देखा जाता है तो वहीं आत्मा, परमात्मा आदि की सत्ता के विषय में मतभेद देखा जाता है। जहाँ जितने पक्ष में साम्य रहता हैं उस पर पाठक का ध्यान आकृष्ट नहीं होता, किन्तु जहाँ वैषम्य रहता है वहाँ पाठक भी प्रभावित हो जाते हैं। खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया ने ही साम्य-वैषम्य विचारधारा को पल्लवित किया।

आस्तिक दर्शनों में ही परस्पर मतभेद दिखाई देते हैं। उनमें भी खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया जारी रहती है, इससे वे पूर्णतया समानता नहीं रखते। सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी दर्शन है, इसका आधार बौद्ध दर्शन ने लिया जबकि बौद्ध नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत मान्य हुआ। सांख्य सत्‌ कार्यवादी दर्शन है जबकि बौद्ध असत्कार्यवादी माना जाता है। बौद्धों में भी वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार व माध्यमिक दर्शन

परस्पर मतभेद दिखाई देते हैं। बौद्ध माध्यमिक जगत् की परमार्थतः सत्ता नहीं मानता, सांवृतिक सत्ता ही मानता है जबकि वैभाषिक मत में जगत् की सत्ता है। सौत्रान्तिक वर्तमान काल को ही मानता है, किन्तु सर्वास्ति वादी वैभाषिक तीनों कालों की सत्ता मानता है। माध्यमिक किसी भी काल की सत्ता नहीं मानता। उसके मत में शून्य तत्त्व ही मुख्य तत्त्व है। शून्य तत्त्व के बिना किसी की भी सत्ता नहीं है। इसी तरह अकेले वेदान्त दर्शन में भी उसके अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि विचार धाराओं ने जन्म लिया, जिससे वेदान्तदर्शन का स्वरूप अन्य दर्शनों की तुलना में विशाल हो गया। शांकर वेदान्त से रामानुज दर्शन का जीव नितान्त भिन्न हैं। एक ओर जीव को ब्रह्म स्वरूप कहा गया तो दूसरी ओर जीव की अन्ततः सत्ता स्वीकार की गई। रामानुज के अनुसार जीव, ब्रह्म का प्रकार होने से सत्य, अद्वितीय अनन्त ज्ञान शक्ति सम्पन्न चैतन्य स्वरूप, अवयवरहित, परिवर्तनीय अगोचर एवं अणुरूप है। जीव की सत्ता शरीर इन्द्रियाँ प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है। जीवकर्ता एवं भोक्ता दोनों ही है। इसी तरह शांकर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति को स्वीकार न करके केवल विदेह मुक्ति का ही समर्थन किया गया है। मुक्त जीव की कोई कामना न होने से उसे फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।[१] इसलिए रामानुज वेदान्त में विदेह मुक्ति का समर्थन किया गया है।

यदि चार्वाक ऐहिक सुख को ही जीवन का प्राण समझता है तो उसे कौन आज के वातावरण मे मिथ्या कह सकता है। सभी लोग प्रायः ऐहिक सुख में तल्लीन हैं। उसे परलोक से या ईवर से कोई मतलब नहीं है, इस धारणा से रामानुज की मुक्तात्मा की अवस्था की तुलना करने पर कहीं न कहीं कुछ साम्य सा अनुभूत होता है। रामानुज मत में मुक्तात्माओं को जिस वैकुण्ठ की प्राप्ति होती हैं, वह साधारण जीवन से भिन्न नहीं है। वेशभूषा रहन, सहन एवं रमणीक दृश्यों की सुसम्पन्न योजना वैकुठ में साधारण जीवन की अपेक्षा विशिष्ट होती है। वैकुण्ठ में जीव संगीत भी सुनता हैं। और कभी-कभी गूढ़ रहस्यों का विवचेन भी करता है। इस तरह वैकुण्ठ में भी जीव की कामना व विलासिता से युक्त जीवन का अन्त नहीं होता। इस दृष्टि से भी रामानुज में चार्वाक का ऐहिक सुख वैकुण्ठ वासियों को भी अभिप्रेत दिखाई देता हैं।

---

1. श्रीभाष्य 4/4/22

आस्तिकता क्या स्वरूप हैं? इस जिज्ञासा में यदि रुढ़ विचारों के आधार पर कहा जाए तो धर्म में ईश्वर में तथा आत्मा में जो विश्वास रखते हैं उनकी सत्ता सिद्ध करने में तथा असत्तावादी विचारकों को परास्त करने में सफल दिखाई देते हैं वे आस्तिकता के अन्तर्गत कहे जाते हैं। आस्तिक पक्ष प्रायःवादी पक्ष माना गया है। यदि उसमें कोई प्रश्न खड़ा करके फिर उसके खण्डन की ओर जाता हुआ दिखाई दिया तो उसे विरोधी उसे विरोधी कह दिया गया। अतः आस्तिकता केवल आस्था का ही विषय नहीं है। बल्कि उसका अपने जीवन में सही आचरण करना व अपने प्रतिपादित आस्तिक विचारों को बिना किसी आग्रह-दुराग्रह के प्रमाण प्रस्तुत कर उन्हें निरन्तर अपनाना, कभी स्वप्रतिपादित विचारों के प्रति अश्रद्धा न करना ही आस्तिकता है। आज के कुछ स्वार्थी विचारक चिन्तक विद्वान् जिस आस्तिक वादी विचारधारा को गले लगा लेते हैं यदि कहीं उसके विपरीत उन्हें क्षणिक लाभ दिखाई देता है। तो वे उसकी पुष्टि करने लगते हैं, तथा अपने विश्वस्त विषय की महिमा के प्रति अनावस्था व्यक्त कर देते हैं क्या इसे आस्तिकता कहा जा सकता हैं? कदापि नहीं। जो आस्तिकवादी अपने श्रद्धेय शास्त्र के प्रतिकूल खड़ें हो जाते हैं वे अवसरवादी ही कहे जा सकते हैं। स्वार्थपूर्ति शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्ररिप्रेक्ष्य में आड़े नहीं आ सकती। कुछ विद्वान् अपने विचारों में दृढ़ता की कमी से या चिन्तन की उत्कृष्टता की कमी से आस्तिक धारा से नास्तिक धारा में चले जाते हैं तथा कभी नास्तिक से आस्तिक हो जाते हैं, यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। अतः आस्तिकता से अभिप्राय सकारात्मक पक्ष के प्रति अटूट-श्रद्धा व उसकी गहन विचारणा एवं विस्तृत सभी पक्षों को जानना तथा उसके विरूद्ध मतों को हमेशा तिरस्कृत

करना एवं आचार्यों के विचारों का प्रचार करना है।

नास्तिक शब्द घृणा का सूचक कदापि नहीं है। कुछ आस्तिक, नास्तिकों को ब्रह्म विरोधी मत होने से उनकी निन्दा करते हैं। यह उचित नहीं है। जैसे व्यवहार में कभी-कभी नकारात्मक पक्ष बहुत अच्छा लगता है। जैसे हमें अपने दुश्मन से डर है तब जब हम पूछते है कि दुश्मन यहाँ अभी है या नहीं? उत्तर में अभी नहीं है ऐसा नकारात्मक पक्ष सुनकर हम बहुत आनन्दित होते हैं निश्चिन्त हो जाते हैं। अतः ऐसे अवसरों पर नकारात्मक पक्ष प्रिय होता है। नास्तिकता से ही आस्तिकता की जीवन्तता रहती है। नास्तिक का अर्थ जो धर्म, ईश्वर एवं उनके विचारों में श्रद्धा नहीं रखता है उसे नास्तिक कहा जाता है। नास्तिकता के प्रति श्रद्धा रखने वाले विद्वान् भी संख्या में बहुत हैं। बुद्ध ने 'नेति नेति' पक्ष रखकर आत्मा की सत्ता का खण्डन किया। उनकी दृष्टि में सब कुछ क्षणिक है। पदार्थों की सत्ता क्षणिक है। अतः क्षणिकवाद सिद्धान्त स्वतः नास्तिक नहीं हैं किन्तु आत्मविरोधी होने से आत्मवादी के प्रति वह नास्तिक हो जाता है। बौद्ध माध्यमिक तो जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं मानता उसकी दृष्टि में समस्त पदार्थ अनित्य हैं। शून्यता तत्त्व ही वस्तुतः सत् है। नागार्जुन का यह माध्यमिक मत स्वतः आस्तिक है किन्तु अन्य आस्तिक विरोधी होने से वह नास्तिक है। नास्तिक दर्शन चार्वाक जैन बौद्ध जो अनीश्वरवादी हैं, वे कहे जाते हैं। बौद्ध मत भले ही अनात्मवादी हो, परन्तु उसकी आचार संहिता अत्यन्तसुपुष्ट एवं प्रभावशाली है। नास्तिक विचारधाराएँ केवल आत्मविरोधी होने से भले ही कुछ विद्वानों के लिए आदरणीय हों किन्तु उनके पक्षों के सही आकलन के बिना उन्हें कथमपि अश्रद्धेय नहीं कहा जा सकता।

बौद्धमत उपनिषदों से प्रभावित है तथा उन्हीं की प्रतिक्रिया वह है। तब उसे नास्तिक कहना कहाँ तक संगत है। बौद्ध करुणावादी दर्शन है। उसकी सहानुभूति प्रत्येक जीव के प्रति दिखाई देती है। वह संवदेनशील दर्शन है। वह प्रत्येक व्यक्ति दुःख को दूर करना चाहता है, जीव को संसार से निकालकर निर्वाण की ओर ले जाना चाहता है। अतः उसे नास्तिक, निन्दनीय एवं अश्रेद्धय कैसे माना जा सकता है। जैनमत में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। जैन दर्शन के पंच महाव्रत वैदिक ही है। वेदान्त में जिन नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों को स्पष्टतया स्वीकृत किया गया है। जैन दर्शन में सम्यक् चरित्र की महती प्रतिष्ठा है। पुनः जैन दर्शन को वैदिक मत में कुछ अंशों के प्रति आस्था न होने से उसे नास्तिक कह देना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है। जैन दर्शन का साधनापक्ष कितना कठोर एवं सुपुष्ट है, जिसमें कहीं भी प्रमाद का स्थान नहीं है, ऐसी स्थिति में जैन मत को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। वैदिक दर्शन की मान्यता सेउसकी मान्यता हर तरह से बेजोड़ है। नास्तिक मत आस्तिक मत के आधार पर आगे बढ़ता है, क्योंकि पृष्ठभूमि उसकी वही होती है। केवल कुछ वैचारिक अन्तर मात्र रहता है। बौद्ध मोक्ष शब्द के स्थान पर निर्वाण को मानते हैं जबकि आस्तिक दर्शन मोक्ष को ही मान्यता देते हैं अतः मोक्ष की दृष्टि से बौद्ध का अबौद्ध दर्शन से साम्य है, किन्तु अनीश्वरवादी होने से वैषम्य है।

जैन दर्शन जीव, अजीव, आस्रव बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष तत्त्वों की मान्यता प्रतिपादित करता है जबकि वेदान्त भी प्रायः बन्धन-मोक्ष, जीव आत्मा आदि को स्वीकार करता है। जैन दर्शन में जीव को द्रव्य रूप में स्वीकार किया गया है। वेदान्त में जीव के नित्य परिणामी होने से इसमें प्रतिक्षण परिणाम होते रहते हैं। वैसे ही जैन में भी मान्यता है। अतः उभयमत कहीं साम्य रखते हैं तो कहीं वैषम्य। वैसे समस्त वैदिक व अवैदिक दर्शन मोक्ष संसारी जीव को दुःख के बन्धन से मुक्त करना चाहते हैं और उसे आत्यन्तिक सुख प्राप्त कराना चाहते हैं।

(२) नास्तिक दर्शनों का सामान्य परिचय :-

आस्तिक दर्शन भले ही संख्या में अधिक हो तथापि उन सभी की अपेक्षा नास्तिक दर्शनों का महत्त्व भी उनसे कम नहीं है। दार्शनिकों की संख्या बाहुल्य इसमें कथमपि मानक नहीं हो सकता। क्या नास्तिक दर्शनों के श्रद्धालु अध्येताओं की संख्या कम है? या उनकी विचारधारा के अनुयायी जन कम हैं? आज देखने में विषमता ही दृष्टिगोचर हो रही है। जो आस्तिक दर्शनों की वकालत करते हैं। वे अपने जीवन में कहाँ तक उनकी विचारधारा पर चलते हैं कितना उनका पालन करते हैं यह तथ्य भी चिन्तनीय है। वे संख्या-बाहुल्य को देखकर अपनी जाति धर्म सभ्यता व वंशानुगत परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आस्तिक दर्शनों को बोझ के रूप में समझते हैं जबकि नास्तिक दर्शनों के भौतिवादी नियमों पर चलते हुए देखे जाते हैं। भौतिकवादी जगत् में आस्तिक दर्शनों की विचारधारायें ऊपरी तौर हवा में बह रही हैं, जब कि अधिकांश जन भौतिक सुख-सुविधाओं के माध्यम से आराम व ऐहिक सुखमय जीवन यापन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि नास्तिक दर्शनों की प्रासंगिकता सीमित है। नास्तिक दार्शनिकों के अनुयायी जन प्रतिदिन उन्नति कर रहे हैं। अनेक प्रकार के सुखों का भोग कर रहे हैं। वे संसार को ही प्रत्यक्षतः सुखदायक मानते हैं। इसीलिए जैन बौद्ध आदि दर्शनों ने विश्व व्यापी क्षेत्र बना लिया। इन दोनों दर्शनों का महत्त्व संसार में कम नहीं है। बौद्ध ध र्म-दर्शन ने वैदिक धर्म-दर्शन की अपेक्षा व्यापक स्तर पर सफलताएँ प्राप्त कीं। विदेशों में, जापान, जर्मनी, मंगोलिया, अमेरिका, चीन तिब्बत आदि देशों में बौद्ध धर्म-दर्शन के ऊपर अनेक शोध संस्थान कार्य कर रहे हैं। बौद्ध साधना के माध्यम से

लोग निर्वाण मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जैनमतावलम्बियों में अपने धर्मदर्शन के प्रति अटूट श्रद्धा एवं निष्ठा देखी जा रही है। जब कि वैदिक धर्म-दर्शन के प्रति उनके अनुयायी उतने सजग नहीं है, न ही उनकी दृढ़निष्ठा है। कट्टरता जितने स्तर पर जैन-बौद्ध धर्मों में है उतनी वैदिक धर्मों में नहीं है। अतः नास्तिक दर्शन प्रतिषेधपरक होने पर भी वैदिक दर्शन से किसी भी स्तर पर कम नहीं है। अध्येताओं को नास्तिक दर्शनों को अवश्य पढ़ना चाहिए। वैदिक दर्शनानुयायी नास्तिक दर्शनों के प्रति उपेक्षाभाव होने से उनका अध्ययन तक नहीं करते हैं। एक दर्शन के अनुयायी दूसरे दर्शन के साथ उसकी तुलना के बिना पंगु कहे जाते हैं। अध्येता वर्ग ने नास्तिक दर्शनों को आत्मा व ईश्वर के प्रति उनकी अनास्था से उनसे अपना मुँह मोड़ लिया उन्हें देखना भी नहीं चाहा जिससे उन दर्शनों के स्वारस्य से वे वंचित रह गए। ऐसी स्थिति में आस्तिक दर्शनानुयायियों का नास्तिक दर्शनों से अवश्य परिचित होना चाहिए। यहाँ नास्तिक दर्शनों का प्रभाव व उनका सामान्य परिचय इसलिए दिया जा रहा है।

१- __बौद्ध दर्शन__- बौद्ध दर्शन के मूल में वैदिक आत्मवाद की प्रतिक्रिया ही मुख्यतः परिलक्षित होती है। उपनिषदों से ही बौद्ध दर्शन की प्रवृत्तियों का विस्तार हुआ। बौद्ध धर्म ने उपनिषदों के पुनर्जन्म कर्मवाद, मोक्ष को धरोहर के रूप में अपनाया। बौद्धों के असंगादि निराकार एवं नीरूप किन्तु उपनिषदों के अनिर्वचनीय विज्ञान एवं नागार्जुन के शून्य में उपनिषदों के निर्गुण एवं निराकार आत्मा की छाया दुर्लभ नहीं है। बौद्धों का तथता सिद्धान्त भी उपनिषदों एवं वेदान्तियों के 'तत्त्वमसि' एवं आत्मवाद का ही साक्षात् स्मरण दिलाता है। फिर माध्यमिक के अनुसार केवल निर्वाण ही सत्य रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसके अतिरिक्त सब धर्म निःस्वभाव होने से शून्य हैं। उपनिषदों में भी आत्मा-ब्रह्म स्वरूप मोक्ष के अलावा अनात्म

जगत् की असत्यता सिद्ध की गई है। इस तरह संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन को वैदिक उपनिषद् दर्शन से साक्षात् एवं प्रबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी।

गौतम बुद्ध का जन्म ५०५ (वि.पू.) लुम्बिनी में बैशाख पूर्णिमा में माना जाता है। इनकी माता महामाया देवी तथा पिता शाक्यगणीय शुद्धोदन थे। ऐसा कहा जाता है कि ज्योतिर्विदों ने इनके जन्म के समय यह भविष्यवाणी की थी कि 'वे किसी जर्जर वृद्ध, रोगी पुरुष एवं मृत व्यक्ति को देखकर संन्यास ग्रहण कर लेगें।' यह जानकर बुद्ध के पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा उनके लिए अनेकविध विलासमयी सुख सज्जा की व्यवस्था की जिससे बुद्ध भोग विलासमय जीवन व्ययीत करें, जिससे उनमें संन्यास की प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। भवितव्यता कुछ विपरीत थी। बुद्ध का पूर्व नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ जब-जब वृद्ध तथा रोगियों को देखते थे तो उनका मन कष्ट एवं करुणा से आप्लावित हो उठता था। इससे उन्हें संसार की अस्थिरता और क्षणभंगुरता का बोध हुआ, जिसके परिणामस्वरूप वे जीवों के क्लेश निवारणार्थ पूर्णतः तत्पर हो गए। इस तरह अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सिद्धार्थ ने १८वर्ष की अवस्था में सर्वथा गृहत्याग किया। इसे बौद्ध जगत् में 'महाभिनिष्क्रमण' की संज्ञा दी गई। पहले पैदल चलकर बुद्ध राजगिरि (राजगृह) पहुँचे। इसके पश्चात् वहाँ से वे अरुवेला पहुँचे, जहाँ उन्होंने अन्य पाँच सन्यासियों के अत्यन्त कठोर व्रत एवं अनुशासन के पथ पर चलना आरम्भ किया। इसका यह परिणाम हुआ कि उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया और एक दिन वे बेहोश होकर गिर पड़े और उनकी मृत् वत् स्थिति गई है। इस घटना के ६ वर्ष के पश्चात् गौतम बुद्ध ने अनुभव किया कि कठोर व्रत एवं नियमों के पालन से सांसारिकों की क्लेश निवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः वे भ्रमण के लिए निकल पड़े। ४६१ वि. पू. में बैशाख मास की पूर्णिमा को बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया। इसके पश्चात् काशी के समीप सारनाथ में कौण्डिन्य आदि पाँच भिक्षुओं को सर्वप्रथम उपदेश प्रदान कर धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। इसके अनन्तर गणराज्य के आदर्शों के निमित्त बुद्ध ने भिक्षु संघ की स्थापना की तथा संसार को समस्त क्लेशों से मुक्ति दिलाने के लिए विनय तथा धर्म की शिक्षा में तत्पर हो गए। अन्त में ४२६ वि. पू. बैशाख

मास की पूर्णिमा तिथि को ८० वर्ष की आयु में मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (कसया, गोरखपुर) में बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध का जन्म बोधप्राप्ति एवं निर्वाण की प्राप्ति वैशाखमास की पूर्णिमा को ही सम्पन्न हुई थी। इसलिए बौद्ध धर्म के अनुयायियों में बैशाख मास की पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है। अधुना बौद्ध पूर्णिमा के विशेषोत्सव का भी यही आधार है।

<u>त्रिपिटक (पालि वाङ्मय)</u>- बौद्ध दर्शन का प्राचीन रूप त्रिपिटकों में मिलता है। पिटक के स्थान पर प्रथम शताब्दी के शिला लेखों में 'तेपिटक' शब्द का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के निर्वाण पर प्रथम धर्म संगीत धर्म सभा राजगृह में सम्पन्न हुई, जिसमें धर्म और विनय का संग्रह हुआ। धर्म सूत्रान्त में बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। विनय के अन्तर्गत भिक्षु आदि के नियम वर्तमान है। त्रिपिटक इनके पश्चात् वर्ती है। बुद्ध के मौखिक उपदेशों के संग्रहार्थ राजगृह में सम्पन्न प्रथम संङ्गीति में महाकश्यप के सभापतित्त्व में सुत्तपिटक नापित कुल में उत्पन्न हुए, उपालि के प्रमुख सहयोग से विनयपिटक संकलित किया गया। सुत्तपिटक में मातिका (मातृ का) की व्याख्या से पश्चात् 'अभिधम्भ पिटक' का संकलन सम्पन्न हुआ।

<u>सुत्तपिटक</u>- बुद्ध के लोकाकारक उपदेशों तथा संवादों का संग्रह सुत्तपिटक में वर्तमान है। इस पिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय, मंज्झिम निकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुव्त निकाय तथा खुद्दकनिकाय में पाँच निकाय हैं। दीघ निकाय में ३४, मंज्झिम में १५२, संयुक्त में ५६, अंगुत्त में २३०८ सुत्त हैं। खुद्दक के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों का समावेश है- ये ग्रन्थ हैं- खुद्दक पाठ, धम्भपद, उदान इतिवृत्तक, सुत्त निपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देश, पटिसंभिदामग्ग, अवदान, बुद्धवंश एवं चरियापिटक।

<u>विनय पिटक</u>- विनयपटिक के तीन भाग हैं- पाति भोक्ख (प्रातिमोक्ष) खन्धक एवं परिवार। भिक्षुओं के आचरण का अनुशासन रखने के लिए बुद्ध ने जो नियम बनाये थे, उनहें पाति भोक्ख कहते हैं। खन्धक में महावग्ग तथा चुल्लवग्ग आते हैं। विनयपिटक का अन्तिम भाग परिवार है। यह भाग बहुत बाद बना होगा। इसका रचयिता सिंहल का कोई भिक्षु रहा होगा। परिवार में अनेक तरह की सूचियाँ वर्तमान हैं।

अभिधम्मपिटक– अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत बुद्ध के उपदेशों के आधार पर दार्शनिक विचारों को संकलित किया गया है। इसमें सात ग्रन्थ हैं, जिनके नाम धम्मसंगणि विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञाति, कथावत्थु, यमक तथा पट्ठान हैं।

बौद्धधर्म सम्बन्धी पालि ग्रन्थ- उपर्युक्त पिटकों के अलावा पालिभाषा में कतिपय अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। जिनका परिचय भी आवश्यक है।

मिलिन्द प्रश्न– इसके रचयिता अनिश्चित है। आचार्य नरेन्द्र देव का कथन है कि इसका निर्माता उत्तर पश्चिम भारत का रहा होगा।[1] ग्रीक सम्राट मिनेशडर (ई.पू. प्रथम शताब्दी) ही मिलिन्द थे तथा नागसेन के साथ उनके संवाद की योजना इस ग्रन्थ में वर्तमान है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम 'मिलिन्द प्रश्न' है। बुद्ध घोष ने इस ग्रन्थ को पिटक के समकक्ष माना है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत अनात्मवाद क्षणभङ्गवाद, कर्म, पुनर्जन्म एवं निर्वाण आदि के सम्बन्ध में तार्किक दृष्टि से विचार किया गया है।

वेत्तिपकरण– यह भी मिलिन्द प्रश्न के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता महाकच्चान है। इसमें बुद्ध के उपेशों का व्यवस्थित सार दिया गया है।

पेटकोपदेश– इसके रचयिता भी महाकच्चान हैं। पिटको के अध्ययन व अनुशीलन के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अट्ठकथाऐं– बुद्धघोष ने सिलोनी अट्ठकथाओं के आधार पर चतुर्थ पंचम शताब्दी में विनयपिटक, दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर तथा संयुत्त निकायों की टीका की। बुद्ध घोष ने अभिधम्म पिटक की व्याख्यायें भी लिखी थीं। ये व्याख्यायें अट्टकथायें कही जाती है। यह भी मान्यता है कि धम्मपद तथा जातक की अट्ठकथायें भी बुद्धघोष द्वारा रचित हैं।

विसुद्धिमग्गो– बुद्धघोष ने अनुराधपुर के महाविहार के स्थविरों की आज्ञा से विसुद्धिमग्गो की रचना की थी। इसे त्रिपिटक अट्ठकथा भी कहा जाता है, क्योंकि यह त्रिपिटकों के अध्ययन की कुंजिका है। इसके अन्तर्गत शील, समाधि तथा प्रज्ञा का तेईस अध्यायों में विस्तृत वर्णन हैं।

परमत्थमंजूषा– यह ग्रन्थ विसुद्धिमग्गो की टीका है। इसके प्रणेता धम्मपाल स्थविर हैं। इसका रचनाकाल पाँचवी शताब्दी है।

---

1. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्मदर्शन, पृ. 33

अभिधम्मत्थसंगहो- अनिरुद्ध आचार्य (दसवीं-बारहवीं शताब्दी का मध्यकाल) ने इस ग्रन्थ की रचना की थीं। यह ग्रन्थ 'अभिधम्मपिटक' के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपादेय है।

बौद्ध आचार पक्ष- बौद्ध आचारपक्ष अत्यन्त प्रबल है। बुद्ध आध्यात्मिक परिष्कार का माध्यम आचार को मानते थे। इसलिए समस्त बौद्धदर्शन आचार परिपूर्ण है। सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्त सभी आचार के अन्तर्गत आते हैं। अत एव बुद्ध के शिष्य जब उनसे आध्यात्मिक प्रश्नों (अतिप्रश्न) की जिज्ञासा करते थे तो वे मौन हो जाते थेः 'गुरोस्तु भाषणं मौनम्।' इसका आशय यही है कि आध्यात्मिक ज्ञान भाषण से नहीं, अपितु आचार, व्यवहार से प्राप्त होता है। निदर्शनार्थ श्रावस्ती के जैतवन में मालुक्यपुत्त के द्वारा जब संसार की नश्वरता एवं अनन्तता तथा जीव की अनेकता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्न बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत किए तो वे मौन हो गए। उन्होंने इस प्रश्नों को अकथनीय कहा। बुद्ध का तात्पर्य था कि ये प्रश्न दुःखनिवृत्ति के साधन नहीं बन सकते। दुःखनिवृत्ति आचार-व्यवहार से ही सम्भव है। इसलिए बुद्ध ने चार आर्य सत्यों की स्थापना की थी-

चार आर्य सत्य- मनुष्य जीवन के कल्याण की दृष्टि से बुद्ध ने जीवन के चार श्रेष्ठ सत्यों का निर्देश किया है। जिन्हें आर्यसत्य कहते हैं।[१]

१. **दुःखसत्य**- यह प्रथम आर्यसत्य है। बुद्ध ने इसकी व्याख्या में कहा है- जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था एवं शोकरुदन आदि दुःख है। संक्षेप में रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये पाँच उपादान स्कन्ध दुःख हैं।

२. द्वितीय आर्य सत्य दुःख हेतु है। दुःख का हेतु तृष्णा-काम अर्थात् भोग की तृष्णा, भव अर्थात् संसारिक तृष्णा एवं विभव की तृष्णा है। बुद्ध कहते हैं कि काम अर्थात् विभिन्न भोगों की प्राप्ति के लिए लोग परस्पर कलह करते हैं एवं प्राण भी देते है।

---

1. महासत्ति सुत्त (दीर्घ निकाय) 2/9
2. मज्झिम निकाय 1/2/3

३. तृतीय आर्य सत्य दुःख विनाश है। तृष्णा के आन्तरिक निरोध, परित्याग एवं विनाश को दुःख निरोध कहते हैं। तृष्णा का त्याग होने पर ही तृष्णा का निरोध होता है। जन्म के निरोध से समस्त दुःखों का निरोध होता है।

४. **दुःख निरोध मार्ग**– यह चतुर्थ आर्यसत्य है। बुद्धोपदेश के अनुसार दुःख विनाश की ओर ले जाने वाला अष्टाङ्गमार्ग है।

अष्टाङ्गमार्ग– अष्टांगमार्ग के ३ प्रधान भाग हैं। ज्ञान, शील एवं समाधि। ज्ञान के ३ भाग हैं– सम्यक् संकल्प, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् वचन।

शील के भी ३ भाग हैं– १. सम्यक् कर्म, २. सम्यक् जीविका, ३. सम्यग् प्रयत्न।

समाधि के २ भाग हैं– १. सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। कुल आठ हैं।

त्रिरत्न– १. बौद्ध धर्म में बुद्धं शरणं गच्छामि।

२. धम्मं शरणं गच्छामि।

३. संघ शरणं गच्छामि। ये तीन रत्न अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का उपदेश किया है। शील के अन्तर्गत सात्विक कर्मों का परिगणन होता है। इसके अन्तर्गत अहिंसा, अस्तेय, सत्य, भाषण, ब्रह्मचर्य तथा मादक द्रव्यों का असेवन हैं। ये पाँच कर्म पच्चशील कहलाते हैं। ये पाँच कर्म गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों के लिए उपदिष्ट है। किन्तु भिक्षुओं के लिए पाँच कर्म उपदिष्ट हैं– १. अपराह्न भोजन २. मालाधारण ३. संगीत ४. सुवर्ण ५. रजत एवं महाशय्या का त्याग है।

प्रज्ञा– प्रज्ञा त्रिविध है। श्रुतमयी प्रज्ञा, इसे आप्त विद्वानों का निश्चय कहा जाता है। चिन्तामयी प्रज्ञा मुक्ति से उत्पन्न निश्चय होती है तथा भावनामयी प्रज्ञा समाधिजन्य निश्चय होती है। इस त्रिविध प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ध्यान का अधिकारी होता है। बुद्ध स्वभाव को धर्म एवं प्रज्ञा कहा गया है। 'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता' में प्रज्ञा पारमिता को बुद्ध का धर्मकाय कहा जाता है। प्रज्ञा तथागतों की माता होती है। प्रज्ञा पारमिता-शून्यता, तथता भूतकोटि एवं धर्मधात्वादि कही गई है।[1] प्रज्ञा से ज्ञान का साक्षात्कार, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ दिव्य परचित्त का ज्ञान, पूर्वजन्म का स्मरण एवं दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होने पर

---

1. बोधिचर्यावतार पंचिका टीका 9/38

दुःखक्षय का बोध होता है। सामञ्ञसुत्त (दीघ निकाय पृ. ३३२) के अनुसार प्रज्ञा से चित्त, कामस्रव, भोगेच्छा, भवास्रव (संसार की इच्छा जन्मग्रहण की इच्छा) एवं अविद्यास्रव अज्ञान से सर्वथा मुक्ति हो जाती है।

इस तरह शील समाधि और प्रज्ञा बुद्धोपदेश का प्राण तत्त्व है। धम्मपद में बुद्धानुशासन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि पाप का न करना, पुण्य सम्पत्ति का संचय एवं चित्त परिशुद्धि यही अनुशासन है।[1]

<u>बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्त</u> :- बौद्ध दार्शनिक विचारों में क्षणिकवाद प्रतीत्यसमुत्पाद एवं अनात्मवाद प्रमुख हैं।

<u>क्षणिकवाद</u>- बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं। इनके अनुसार जगत् सर्वथा अनित्य है तथा दो क्षण भी वह किसी तरह स्थिर नहीं रह सकता। स्कन्ध, आयतन तथा धातु के भेद से बुद्ध ने विभाजन किया है। स्कन्ध के रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये ५ भेद हैं। रूप में पृथिव्यादि चार महाभूत आते हैं। वेदना सुख दुःखादि का अनुभव है। संज्ञा का अर्थ अभिज्ञान होता है। संस्कार एक तरह की वासना है। विज्ञान चेतना या मन है। ये सभी स्कन्ध अनित्य एवं क्षणिक हैं। बौद्ध दर्शन में इन्हें दर्शन में इन्हें प्रतीत्यसमुत्पन्न क्षय धर्म वाला व्ययधर्मवाला तथा निरोध धर्मवाला कहा गया है।[2] आयतन बारह होते हैं- चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन ये ६ इन्द्रियाँ तथा इनके ६ विषय- रूप शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श इनके धर्म हैं। धातुएँ अठारह होती हैं इनमें ६ इन्द्रियाँ तथा ६ विषय तथा विषयों के सम्पर्क से होने वाले ६ विज्ञान (चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय, मानस) संगृहीत हैं।

---

1. सब्ब पापस्य अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एवं बुद्धानशासनम्।। धम्मपद 14/5
2. महानिब्बान सुत्त (दीघ निकाय 2/15 बुद्धचर्या 133)

इस क्षणिक स्वरूप की व्याख्या बौद्ध दर्शन में सन्तानवाद के आधार पर की गई है। सन्तान वाद के अनुसार दीपक की लौ प्रतिक्षण उत्पन्न होती है तथा अन्यान्य असंख्य लौ उत्पन्न होते हैं। यही स्थिति जागतिक अनित्य पदार्थों की भी है। वे क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं।

<u>मध्यमा प्रतिपत्</u>- बुद्ध सत्ता तथा असत्ता के बीच परिणाम को मानते हैं। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व प्रवाह में एक अवस्था की उत्पत्ति एवं एक अवस्था का लय होता है। यह सत्ता एवं असत्ता की स्थिति है। इस दोनों की मध्यवर्ती दशा परिणाम दशा है। इसी को मध्यमा प्रतिपत् कहा जाता है।

<u>प्रतीत्यसमुत्पाद</u>- शून्यता, उपादाय, प्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपत् ये सभी शून्य की ही संज्ञायें हैं।[1] शून्यवादियों के अनुसार जो प्रतीत्यमुत्पाद का अर्थ है, वही शून्यता का अर्थ है परन्तु शून्यता अभाव वाचक कभी नहीं हो सकती। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न हैं सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतीत्य है। वस्तुतः वे अनुत्पन्न ही हैं। इसी तरह जगत् की वस्तुओं का भी समुच्छेद प्रतीत होता है। वह भी प्रतीत्य समुच्छेद ही है, वास्तविक नहीं। इस तरह प्रतीत्यसमुत्पाद रूप शून्यता के स्वीकार कर लेने पर वस्तुओं की उत्पत्ति और उनके विनाश का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। शून्यता सिद्धान्त के अनुसार सभी वस्तु जगत् की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान हैं। इस तरह शून्यवादी की अनात्मवादिता स्पष्ट हो जाती है। शून्यवादी भौतिकवादी भी नहीं है, क्योंकि उसने वस्तुओं के क्षणिक विनाश एवं क्षणिक प्रादुर्भाव रूप प्रवाह को माना है। अतः शून्यवाद, आत्मवाद एवं भौतिकवाद के मध्यवर्ती सिद्धान्त है।

---

1. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।। माध्यकिकारिका- 24/18

अनात्मवाद- उपनिषदों की तीव्र प्रतिक्रिया जन्य अनात्मवाद सिद्धान्त हैं। बुद्ध का कथन है कि रुप, वेदना, संज्ञा एवं विज्ञान सभी धर्म अनात्म हैं। आत्मवाद के लिए बुद्ध ने सत्काय दृष्टि शब्द का व्यवहार किया है। बुद्ध आत्मवाद के घोर निन्दक थे।

हीनयान एवं महायान:- महायानवादी हीनयानीय विचारधारण को तुच्छ मानते हैं। इसलिए उसे 'हीन' शब्द से कहा गया। महायान ने बुद्ध को अलौकिक व्यक्तितत्व प्रदान किया। जिसके फलस्वरूप बुद्ध की मैत्री भावना एवं करुणा तथा समाहित चित्त को दरसाने वाली मूर्तियाँ यूनान में बननी आरम्भ हुई। बोधिसत्त्व वह है जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करता है तब जिसमें सम्यग् ज्ञान हैं, उसी के चित्त में जीव लोक के प्रति करुणा उत्पन्न हो सकती है। यही महायान धर्म है। हीनयान का दूसरा नाम श्रावकयान है। इसी तरह महायान को बोधिसत्त्व यान एवं अग्रयान भी कहते हैं। हीनयान अथवा श्रवाकयान के अनुसार श्रावक को स्वयं अष्टांगमार्ग का अनुसरण करना चाहिए। श्रावक के लिए स्रोतापन्न, सकृदागामी अनागामी तथा अर्हत् इन चार अवस्थाओं का निर्देश किया गया है। अन्तिम अवस्था में आस्रवों का क्षय होने पर जीव 'अर्हत्' स्थिति को प्राप्त करता है। श्रावकयानी का लक्ष्य अर्हत् प्राप्ति है। स्रोतापन्न व्यक्ति सांसारिक प्रपंच से मन को हटाकर आध्यात्मिक प्रवाह में पड़कर उन्नत अवस्था को प्राप्त करता है। स्रोतापन्न व्यक्ति की सत्काय दृष्टि विचिकित्सा एवं शील व्रत परामर्श का क्षय होता है। स्रोतापन्न व्यक्ति की बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति संघानुस्मृति (संघ में श्रद्धा) उत्पन्न होती है।[1]

त्रिविधयान- बौद्ध धर्म के अन्तर्गत त्रिविधियान स्वीकार किए गए हैं- १. श्रावकयान २. प्रत्येक बुद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान। श्रवाकयान का निरुपण ऊपर किया गया है। इसका सम्बन्ध हीनयान से है। प्रत्येक बुद्ध सद्धर्म के लोप होने पर अपने उद्योग से बोधिसत्त्व प्राप्त करते हैं। प्रत्येक बुद्धयान एवं श्रावकयान में विशेष अन्तर नहीं है। प्रत्येक बुद्ध उपदेश से विरत है। ये केवल प्रातिहार्य द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों को बौद्ध धर्म की शिक्षा देते हैं। बोधिसत्त्वयान का सम्बन्ध महायान से हैं। बोधि प्राप्त करने की

---

1. अयं भिक्खों केवलो परिपूरो बाल्वो धम्मो। मज्झिम निकाय 1/1/2

इच्छा से ही बोधिसत्त्व कहा जाता है। जब तक समस्त छोटे-बड़े जीवों के कष्ट दूर नहीं कर पाते तब तक बोधिसत्त्व मुक्ति नहीं चाहता। वह दुःखी जनों के क्लेश से द्रवीभूत हो जाता है। हीनयान का लक्ष्य अर्हत् की प्राप्ति है, जबकि महायान का उद्देश्य बोधिसत्त्व है। 'नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र' के अन्तर्गत बोधसत्त्व का स्वरूप इस तरह निश्चित है-

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमातेक्रान्तं बोधिसत्त्वस्य लक्षणम्।।

<u>**चार प्रमुख सम्प्रदाय**</u>- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक बौद्धदर्शन के ये चार प्रमुख सम्प्रदाय माने जाते हैं। वैभाषिक बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद, सौत्रान्तिक, बाह्यर्थानुमेयवाद, योगाचार, विज्ञानवाद एवं माध्यमिक शून्यवाद का प्रतिपादन करता है। वैसे इतना स्पष्ट है कि जगत् की व्याख्या बौद्धदर्शन में उपनिषदों के आधार पर ही गई है।

वैभाषिक मत एवं आचार्य १. <u>वसुबन्धु-</u> बसुबन्धु असंग के छोटे भाई थे। इनका जन्म पेशावर (पंजाब) में ब्राह्मण वंश के कौशिक गोत्र में हुआ था। वसुबन्धु के एक और छोटे भाई थे। असंग की तरह वसुबन्धु भी आरम्भ में सर्वास्तिवादी थे। ताराकुस के अनुसार वसुबन्धु का समय ४२० तथा ५०० ई. के मध्य है। किन्तु बोनिहारा ने वसुबन्धु का समय ३०० तथा ४०० ई. के मध्य माना है। किन्तु एन. पेरी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वसुबन्धु का समय ई.पू. ३५०० के आसपास हैं। इस आधार पर विन्टरनिट्स वसुबन्धु एवं उनके बड़े भाई का समय चतुर्थ शताब्दी निश्चित करते हैं।

वसुबन्धु का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश है। लुई दला पूसे ने इस ग्रन्थ का चीनी माध्यम से फ्रेंच में अनुवाद किया। चीनी भाषा में इसमें दो अनुवाद है। अभिधर्मकोश में ६०० कारिकाएँ हैं। वसुबन्धु ने इस पर भाष्य भी लिखा। यशोमित्र की 'स्फुटार्था' टीका इस ग्रन्थ के मर्म को खोलती है। शास्त्रीय व्याकरण पाण्डित का प्रदर्शन इस टीका में देखने को मिलता है। इसके अलावा दिङ्नाग स्थिरमति एवं गुणमति ने

अभिधर्मकोश पर मर्म प्रदीप, तत्वार्थ टीका एवं लक्षणानुसार टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त बसुबन्धु के त्रिस्वभाव निर्देश, पञ्चस्कन्धप्रकरण, व्याख्या युक्ति कर्म सिद्धि प्रकरण आदि ग्रन्थ हैं। इनका निधन ८० वर्ष की अवस्था में अयोध्या में हो गया था।

वैभाषिक सिद्धान्तः-

वैभाषिक के अनुसार जगत् के धर्म हेतु से उत्पन्न है। तथागत (बुद्ध) ने इनके हेतु तथा निरोध को बतलाया है। जैसा कि स्पष्ट है कि बाह्य प्रत्यक्ष वादी होने के कारण वैभाषिक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है, तथा स्वतन्त्र सत्ता मानता है। इनके अनुसार जागतिक पदार्थों की द्विविध सत्ता है विषयिगत एवं विषयगत।

इनके विषयिगत पदार्थों में पञ्च स्कन्ध, द्वादश आयतन तथा अष्टादश धातु ग्राह्य हैं। पञ्च स्कन्धों में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान माने जाते हैं। पूर्वोक्त द्वादश आयतन, अष्टादश धातु कुल १८ होते हैं।

विषयगत पदार्थों में धर्म के दो रूप होते हैं। आस्रव एवं अनास्रव। आस्रव समल अर्थात् मल सहित धर्म होता है। अनेक पदार्थों के संघात से जो धर्म उत्पन्न होते हैं। वे अनित्य एवं संस्कृत कहलाते हैं। संस्कृत का अर्थ यहाँ क्षणिक है। मल रहित धर्म संस्कृत होता है। संस्कृत धर्म अनास्रव होते हैं। राग आदि मलों के आश्रय होने के कारण सास्रव धर्म असंस्कृत हैं। असंस्कृत धर्म आकाश, प्रतिसंख्या निरोध एवं अप्रतिसंख्या निरोध होते हैं।

सर्वास्तिवाद :-

वैभाषिक सर्वास्तिवादी थे। इसके अनुसार समस्त बाह्य विषय एवं आध्यात्मिक वस्तु जगत् का अस्तित्व होता है। बौद्ध धर्म के १८ निकायों में सर्वास्तिवाद की गणना की गई है। यह निकाय स्थविरवाद से बहुत पहले ही पृथक् हो गया था।

इस निकाय का प्रभाव अशोककालीन धर्मसङ्गीति से प्रारम्भ होता है।

२. सौत्रान्तिक मत एवं आचार्य :-

जो सूत्र या बुद्धवचनों को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र को नहीं उन्हें सौत्रान्तिक कहा जाता है। जैसाकि अभिधर्मकोश में निर्दिष्ट है-

ये सूत्र प्रमाणिका न तु शास्त्रप्रमाणिकाः[1] इन्हें सूत्र निकायाचार्य भी माना जाता है।

सौत्रान्तिक बाद के प्रतिष्ठापक तक्षशिला के आचार्य कुमारलात हैं। इसके प्रधान आचार्य भरन्त राम, श्रीलात एवं बसुधर्मा आदि हैं। अभिधर्मकोश की व्याख्या के अनुसार सौत्रान्तिकों को दार्ष्टान्तिक भी कहा गया है।[2] तिब्बती पण्डितों के अनुसार ये दोनों एक ही है। कुछ समालोचक सौत्रान्तिक को दार्ष्टान्तिक कहकर इसका सम्बन्ध कुमार लात के दार्ष्टान्तिक पंक्ति ग्रन्थ से करते हैं।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थनुमेयवादी हैं। वैभाषिक के अनुसार सौत्रान्तिक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करता। सौत्रान्तिक का तर्क है कि बाह्य जगत् के पदार्थों के क्षणिक होने के कारण उनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। जैसे कि जब किसी बाह्य पदार्थ के साथ प्रथम क्षण में हमारा सम्पर्क होता है। तब द्वितीय क्षण में वह समाप्त हो जाता है, इसका संवेदनमात्र शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होने पर पदार्थ का नील-पीत आदि चित्र ही चित्र पर पड़ता है और इसी आधार पर हम पदार्थ की बाह्य सत्ता का अनुमान कर लेते हैं।

अतः स्पष्ट है कि बाह्य सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु वे अनुमान से सिद्ध हैं। यही सौत्रान्तिक का बाह्यार्थानुमेयवाद है।

३. योगाचार सम्प्रदाय :- योगाचार एवं विज्ञान एक ही है। ये चैतन-चैत्त कहे जाते हैं। समस्त विज्ञानों का आधार चित्त है। चित्त ही आलय विज्ञान है। आलय विज्ञान के स्वरूप को जानने के लिये योग का आचार आवश्यक है इसलिए इस सिद्धान्त का नाम योगाचार है।

1. आभिधर्म कोशः 2/226।
2. दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिकाः अभिधर्मकोशव्याख्या पृ0 400।

मैत्रेयनाथ इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक थे। मैत्रेयनाथ ने ही योगाचार सिद्धान्त विज्ञानवाद का प्रवर्तन किया था। मैत्रेयनाथ रचित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। ये ग्रन्थ हैं- मध्यान्तविभाग, अभिसमयालङ्कार, सूत्रालङ्कार, महायान उत्तरतन्त्र एवं धर्मधर्मताविभंग हैं। मध्यान्त विभाग के कारिका भाग की रचना मैत्रेयनाथ तथा गद्यभाग की रचना असंग ने की थी। इसके ऊपर बसुबन्धु ने भाष्य का प्रणयव किया था। कुछ विद्वान् आचार्य असंग को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्य निम्नाङ्कित हैं-

१. <u>आचार्य असंग</u> :-

असंग का समय पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। असंग ३ भाई थे। बसु बन्धु इनसे छोटे थे। आरम्भ में दोनों भाई सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। असंग का जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अन्त समय में ये अयोध्या पहुँच गये थे। इनके ग्रन्थों में महायान संग्रह, वज्रच्छेदिका टीका, योगाचार भूमिशास्त्र महायान-सूत्रालङ्कार आदि प्रमुख हैं।

<u>स्थिरमतिः-</u>

स्थिर मति चित प्रमुख ५ ग्रन्थों में त्रिंशिका भाष्य, मध्यान्त (४०० ई. उत्तरार्द्ध) विमङ्गसूत्रभाष्य टीका अभिधर्म कोश भाष्यवृत्ति सूत्रालङ्कार वृत्ति भाष्य, मूल माध्यमिक कारिका वृत्ति हैं। बसुबन्धु इनके गुरु थे।

<u>दिङ्नागः-</u>

(३४५-४२५) ये असंग के शिष्य थे। इनका जन्म काँची के समीप हिंसेवक में ब्राह्मणकुल में हुआ था। दिङ्नाग विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्ठापक हैं। इस शाखा का माध्यमिक से सम्बन्ध, विच्छेद हो गया था। ये बौद्ध न्याय के प्रतिष्ठापक थे। इनके ग्रन्थों में न्याय प्रवेश, आलम्बन परीक्षा, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, हेतु चक्र, डमरू एवं प्रमाणशास्त्र न्याय द्वार प्रमुख हैं। इनकी शास्त्रार्थ पद्धति के कारण इन्हें 'वादिवृषभ' की उपाधि दी गई थी।

धर्मकीर्तिः- (६७५-७०० ई०)

बौद्ध न्याय के क्षेत्र में धर्म कीर्ति का न्याय बड़े आदर से लिया जाता है। दिङ्नाग के पश्चात् बौद्ध न्याय की सीमा में इन्हीं को सर्वाधिक कीर्ति प्राप्त हुई है। इनके सात ग्रन्थ प्रमाणिक तौर पर हैं। प्रमाणवार्तिक, न्याय बिन्दु हेतु प्रमाण-विनिश्चय, वाद न्याय, सम्बन्ध परीक्षा सन्तानान्तर सिद्धि। इनमें संस्कृत भाषा में प्रमाणवार्तिक एवं न्यायबिन्दु ग्रन्थ उपलब्ध हैं शेष ग्रन्थ तिब्बती अनुवाद के रूप में पाये जाते हैं।

योगाचार सम्प्रदाय तथा विज्ञानवाद के अनुसार परमसत्य की उपलब्धि योगाभ्यास के द्वारा ही सम्भव है। इसमें योगाचार साधनापक्ष पर बल देता है जबकि विज्ञानवाद उसके दार्शनिक पक्ष पर बल देता है। लंकावतार सूत्र[1] में चित्त तथा मन को विज्ञान का पर्यावाची बतलाया गया है। चित्त आलय विज्ञान है। चेतन क्रिया से समबद्ध होने से ही चित्त संज्ञा का प्रचलन हुआ है। मनन क्रिया करने के कारण मन संज्ञा का प्रचार हआ है और विषय ग्रहण में कारण होने की वजह से विज्ञान शब्द का प्रवर्तन हुआ है। त्रिंशिका के अन्तर्गत जगत् को आत्मधर्म का उपचार तथा विज्ञान का परिणाम माना है। आत्मधर्मोपचारदि र्विविधो यः प्रवर्तते।

जगत् चित्त अथवा विज्ञान का ही रूप है। 'चिन्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्' यह दशभूमीश्वर का वाक्य जगत् की सत्ता को चित्त मात्र ही सिंद्ध करता है।

माध्यमिक मत (आचार्य) :- नागार्जुन (२०० ई.) कुमारजीव ने ४०५ के लगभग नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। नागार्जुन बौद्धदर्शन के

---

1. चित्तं मनश्च विज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जिताः।
   विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः।। लंकावतारसूत्र 3/40
2. चित्तमालय विज्ञानं मनो यन्मननात्मकम्।
   गृहणाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।। लंकावतार सूत्र गाथा 21

साथ ही आयुर्वेद और ज्योतिषशास्त्र में भी निपुण थे।

नागार्जुन शून्यवाद के पण्डित थे। जिन्होंने बौद्ध न्याय का भी श्रेष्ठ प्रतिपादन किया था। विग्रह व्यावर्तनी में नागार्जुन ने प्रमाण प्रमेय एवं लक्षण आदि का खण्डन किया है। इसके अलावा माध्यमिककारिका में वादी पक्ष का विशिष्ठ शास्त्रीय तर्क पद्धति से इन्होंने खण्डन किया है। ये शून्यवाद के आधार स्तम्भ हैं। ये दाक्षिणात्म थे। बौद्धधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् ये श्रीपर्वत पर निवास करते थे। नागार्जुन रचित ग्रन्थों में माध्यमिककारिका युक्तिषष्ठिका शून्यता सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पाद हृदय, महायान विंशक, विग्रह व्यावर्तनी आदि प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों के अलावा प्रज्ञापारमिता शास्त्र एवं दशभूमि विभाषाशास्त्र भी इनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं।

आर्यदेव- (२००-२२८ ई.) आर्यदेव शून्यवाद के परमाचार्य थे तथा नागार्जुन के शिष्य थे। इनके अन्य नाम देव, काणदेव एवं नील नेत्र थे। ये सिंहलदेश से दक्षिण भारत आये थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ चतुःशतकम् है। इसमें ४०० कारिकायें हैं। दूसरा ग्रन्थ विशुद्धिप्रकरण है।

इसके अलावा बुद्धपालित (५०० ई.) तथा भाव विवेक आचार्यों का नाम भी प्रसिद्ध है। इनके ग्रन्थ तिब्बती अनुवाद के रूप में प्राप्त हैं।

चन्द्रकीर्ति- (६००-६५० ई.) इनके गुरु धर्मपाल थे। इनका मुख्य ग्रन्थ मध्यमकावतार है। मूल माध्यमिक कारिका पर प्रसन्नपदा टीका भी चन्द्रकीर्ति कृत है। एक अन्य ग्रन्थ चतु०शतकव्रृत्ति है। जो आर्यदेव कृत चतुःशतक की टीका है।

शान्तरक्षित- (८०० ई०):- इनका तन्त्वसंग्रह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये नालन्दा के अध्यापक थे। शान्तरक्षित ने धर्मकीर्ति रचित वाद न्याय पर विस्तृत टीका का

प्रणयन किया है। तत्वसंग्रह के अन्तर्गत ब्राह्मणों के मत की आलोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों का समर्थन दृढ़ता के साथ किया गया है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक कमलशील ने तत्वसंग्रह पर पञ्जिकामस्ती टीका का प्रणयन किया है।

शून्यवादः- शून्यवाद जगत् के बाह्य अस्तित्व को शून्य का रूप मानता है। शून्यवाद का निरूपण बौद्धदर्शन में हमें दो रूपों में मिलता है। शून्यवाद का एक रूप तो वह है जिसके अनुसार व्यवहारिक जगत् की सत्यता का निराकरण किया गया है।[1] शून्यवाद के दूसरे रूप के अनुसार परमार्थ तथ्य को ही शून्य रूप कहा है।[2] नागार्जुन भाव, अभाव एवं भावाभाव से रहित तथा सर्वस्य भावानुत्पत्ति लक्षण वाली शून्यता को मानते हैं।[3] बौद्ध दर्शन की उक्त शून्यता जगत् एवं परमार्थ तत्व दोनों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। इनकी शून्यता अनिर्वचनीयता रूप है। इस तरह परमार्थ तत्व एवं जगत् दोनों ही अनिर्वचनीय है। इन्होंने परमतत्व व जगत् दोनों को ही सत्-असत् से विलक्षण कहा है। जगत् की सत्ता इनके मत में सांवृतिक है परमार्थतः नहीं। परमार्थ सत्य ही शून्य है वही निर्वाण है।

संक्षेप में शून्यवाद का परिचय इस तरह हो जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में निहित है।

---

1. माध्यमिक वृति (BTS) पृ० 50
2. अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्वकं चतुष्कोटिविनिर्युक्तं शून्यमेव। सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शनम् 31
3. भावाभावान्तरद्वयरहितत्वात्। सर्वस्वभावानुपपत्ति लक्षणा शून्यता मा० वृ० XXIV

२. जैन दर्शन का संक्षिप्त परिचय :-

जिस तरह बौद्धों का अनात्मवाद उपनिषदों के आत्मवाद की प्रतिक्रिया है उसी तरह जैनदर्शन के स्याद्वाद एवं आत्मवाद सिद्धान्त भी वेद एवं उपनिषद् से प्रभावित हैं। जैनधर्म में वैदिक आत्मवाद के सूत्र स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। इसी तरह ओपनिषदिक विवर्तवाद की दृष्टि जैन दर्शन के परिणामनित्यत्ववाद् के अन्तर्गत पूर्णतया स्पष्ट दिखती हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सत् (प्रत्येक वस्तु) नित्य है तथा अनित्य है। मुण्डकोपनिषद्[1] में परापर तत्त्व का साक्षात्कार होने पर अज्ञान रूप ग्रन्थि के भेदन की बात कही गई है। इसी तरह जैन दर्शन के अन्तर्गत भी महावीर को निर्ग्रन्थि (निगण्ठ) अर्थात् अज्ञान की ग्रन्थि से रहित कहा है। सांसारिक बन्धनों की मूल अज्ञान ग्रन्थियों के भेदन होने के कारण ही तीर्थङ्कर महावीर को यह उपाधि प्रदान की गई थी।

जैनदर्शन निश्चित तौर पर औपनिषदिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। जीव का स्वरूप जैनदर्शन में उपनिषदों पर ही आधारित है। जीव स्वभावतः सत्चित् एवं आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही है और जब जीव के अविद्यात्मक कर्मों का उच्छेद हो जाता है तो वह अपने शुद्ध चेतन भाव को प्राप्त करता है। यही स्वरूप जैनदर्शन में निरूपित है। जीव का कर्तव्य सुखदुःखादि भोक्तृत्व भी जैनदर्शन में अङ्गीकार्य है।

इस तरह स्पष्ट है कि जैनदर्शन अवैदिक होते हुए भी मूलतः किसी न किसी रूप में वैदिक एवं वेदान्त की चिन्तनधारा से प्रभावित है। जैन आचारपक्ष भी वेदान्त से प्रभावित दिखाई देता है। वेदान्त[2] में नित्य

---

1. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वे संशयाः।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। मु० उप० 2/2/8
2. नित्यनैमित्तिक प्रायश्चितत्नोपासन्तनुष्ठानेन निर्गत निखिल कल्मपतया नितान्त निर्मलस्वान्तः वेदान्तसार - 4

नैमित्तिक प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों को स्पष्टतया स्वीकार किया गया है जैनदर्शन भी सम्यक चारित्र्य के अन्तर्गत सत्कर्मों द्वारा आत्मशुद्धि को स्वीकार करता है। जैनदर्शन के पञ्च महाव्रत भी वैदिक ही हैं। अहिंसा सत्य, अस्तेय अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य। इनमें अहिंसा के विषय में वैदिक मैत्रायणी संहिता[1] में कहा गया है कि हे अग्नि! अपनी देह से मेरी प्रजा को मत मारो- मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः।

इसी तरह यजुर्वेद का 'मैत्री-सिद्धान्त' मित्रस्य मा चक्षुषा-भी अहिंसा सिद्धान्त का समर्थक है। इसी तरह आरूणेय उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा अपरिग्रह का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

जैन दर्शन सिद्धान्त एवं सम्प्रदाय- सृष्टि के प्रारम्भ से ही अनेक जैन तीर्थकरों द्वारा उपदेश देने की प्रथा रही है। वैसे प्रामाणिक दृष्टि से महावीर (ई. पू. छठी शती) तथा पार्श्वनाथ (ई.पू. ८वी सदीं) से जैन धर्म दर्शन का प्रवर्तन स्वीकार किया जाता है। पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकर थे, यही प्रथम प्रर्वतक थे। एक और मान्यता है कि जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक-ऋषभदेव थे जिनका काल करोड़ों वर्ष माना जाता है।

<u>पार्श्वनाथ</u>- पार्श्वनाथ का जन्म (ई.पू. ८००) काशी में हुआ था। इनकी माता का नाम महारानी माया देवी था तथा इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे। ऐसा कहा जाता है कि इनकी माता ने अपने बगल में एक कृष्ण सर्प को जन्म के पहले देखा था। इसी से इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा। इन्होंने ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन के आनन्द का अनुभव किया। इसके बाद ये भिक्षु हो गए तथा घोर तप करके कैवल्य का अनुभव किया। पार्श्वनाथ ने जैन धर्म का प्रचार करते हुए ७० वर्ष की आयु में 'समेत शिखा' पर निर्वाण प्राप्त किया।

---

1. मैत्रायणी संहिता- 2,7, 10।
2. यजुर्वेद 36/18
3. ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रहं च आरुणेयोपनिषद्

वर्धमान महावीर- महावीर जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर का अर्थ तीर्थ अर्थात् घाट का निर्माण कर्ता अर्थ होता है। जिस तरह तीर्थ का घाट प्राणियों का उद्धार किया करता है। वैसे ही जैन तीर्थङ्कर भी शरणागत प्राणियों का उद्धार किया करते थे। इनका वास्तविक नाम वर्धमान था। रागद्वेषादि एवं कामादि शत्रुओं को जीत लेने के कारण वर्धमान् 'जिन' (जेता) एवं महावीर के नाम से प्रख्यात हुए। जैन भिक्षुओं को ईश्वर के समकक्ष स्थान देते हुए उन्हें 'अर्हत्'[1] भी कहा गया। महावीर का जन्म बिहार के मुजफ्फर जिले के ग्राम असाढ़ वैशाली में ज्ञातक नामक क्षत्रिय वंश में ई.पू. ५८८ में हुआ था। इनकी माता का नाम त्रिशला तथा पिता का नाम सिद्धार्थ था। श्वेताम्बरों के अनुसार इनका विवाह यशोदा देवी के साथ सम्पन्न हुआ था। माता-पिता के दिवङ्गत हो जाने पर अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर इन्होंने ३० वर्ष की आयु में गृह त्याग किया और ये जैन भिक्षु हो गए। इन्होंने यहजुकूला नदी के तट पर १३ वर्ष तक कठोर तपस्या की तथा कैवल्य लाभ किया। अर्धमागधी के द्वारा ही इन्होंने उत्तर भारत में जैन धर्म दर्शन का प्रसार किया। इस तरह ६२ वर्ष की अवस्था में महावीर ने पावापुरी में निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर ने जैनधर्म एवं सिद्धान्तों के प्रचारार्थ संघ की स्थापना की थी। जिसमें स्त्री और पुरुष सम्मिलित थे। महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद तक महावीर द्वारा स्थापित संघ का कार्य जैन सुचारु पूर्वक चलता रहा। ई. पू. ३१७ में संघ-संचालन का कार्य साधु भद्रबाहु के हाथों में आया। एक सभा में श्वेत वस्त्र धारण करने का निर्णय भी किया गया। इतना ही नहीं स्थूल भद्र ने भद्रबाहु की अनुपस्थिति में जैनागमों का नवीन संग्रह भी आरम्भ कर दिया। इसी समय श्वेताम्बर और दिगम्बर का स्पष्ट विभाजन हो गया। जो भद्रबाहु के साथ चले गए वे दिगम्बर कहलाये क्योंकि वे महावीर के अनुयायी होने से वस्त्र धारण नहीं करते थे। जो स्थूल भद्र के साथ मगध में ही रह गए वे श्वेताम्बर कहलायें। क्योंकि उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण करने का निर्णय किया था।

---

1. सर्वज्ञो जिनरागादि दोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
   यथा स्थितार्थवादी च देवोऽर्हत्परमेश्वरः।। सर्वदर्शन संग्रह पृ. 9

जैन दार्शनिक आचार्य एवं उनके ग्रन्थ -१. कुन्दकुन्द- कुन्दकुन्दाचार्य का स्थितिकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। ये द्रविड़ के आचार्य थे। इनके चार ग्रन्थ नियमसार, पंचास्ति कायसार, समयसार एवं प्रवचनसार प्रमुख हैं।

२. उमास्वाति- दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी इन्हें उमास्वामी कहते थे। उमा स्वाति ने कुसुमपुर में रहकर अपने प्रमुख ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की रचना की थी। इनके महत्त्व को देखते हुए इस पर वृत्ति, भाष्य एवं टीकाओं की रचना की गई।

३. समन्तभद्र- समन्द्रभद्र का समय देवनन्दि से पूर्व विक्रम का तृतीय या चतुर्थ शतक माना जा सकता है। इनके चार ग्रन्थ आत्म मीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र तथा जिस्तुति शतक तथा जिनशतकालङ्कार प्रमुख हैं। इनमें आत्ममीमांसा अत्यन्त प्रमुख है। इसे देवागम स्त्रोत भी कहते हैं। इस पर अकंलक ने अष्टशती तथा विद्यानन्द ने 'अष्टसाहस्री' व्याख्या लिखी है। इसके अन्तर्गत समन्तभद्र ने चौसठ पद्यों में स्वमत तथा परमत के गुणदोषों का सूत्ररूप में संक्षेपतः, आकलन किया है। स्वयम्भू स्तोत्र के अन्तर्गत जिसे समन्तभद्र स्तोत्र भी कहते हैं। १४३ पद्यों में २४ तीर्थङ्करों के धर्म का प्रतिपादन किया है। स्तुतिविद्या अथवा जिनस्तुतिशतक भक्तिरस से परिपूर्ण ११६ पदों का ग्रन्थ है।

इसके अलावा सिद्धसेन प्रभाकर ने न्यायावतार सम्मति तर्क, तथा तत्त्वार्थ कल्याणमन्दिर स्तोत्र का प्रणयन किया। इनका न्यायावतार जैन न्याय का ग्रन्थ है।

हरिभद्र का समय अष्टम शताब्दी है। इनके द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्चय अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में जैनधर्म दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

विद्यानन्द का कालनवम शताब्दी है। इन्होंने कुमारिल मीमांसक का अनुकरण करते हुए अष्टशती पर अष्टसाहस्री तथा तत्त्वार्थसूत्र पर श्लोक कार्तिक की रचना की थी। विद्यानन्द का जैनदर्शन की प्रतिष्ठा में महान् योगदान है।

वादिराज सूरि दक्षिण के सोलंकी वंश के राजा जयसिंह प्रथम के समकालीन थे। ये कवि एवं जैन न्याय के पण्डित के रूप में विशेषतः प्रख्यात थे। इनका स्थितिकाल ११ वीं शताब्दी है। इनके द्वारा रचित 'न्यायविनिश्चय विवरण' न्यायविनिश्यच का भाष्य है। इन्होंने यशोधराचरित (चार सर्ग) एक लघुकाव्य भी लिखा है।

हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) ने जैन न्याय के ग्रन्थों तथा काव्यादि की रचना की थी। जैन न्याय के क्षेत्र में इनके द्वारा रचित 'प्रमाण मीमांसा' की वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा है।

'यशोविजय' नामक विद्वान् ने जैन तर्क भाषा (जैन न्याय) की रचना की। इसके अलावा इन्होंने संस्कृत गुजराती प्राकृत व हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

<u>जैन तत्त्व</u>- जैन दर्शन के अन्तर्गत जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, शंकर, निर्जरा तथा मोक्ष इन सात तत्त्वों का अन्वेषण किया है।

१. <u>जीव</u> - जैन दर्शन में जीव को द्रव्य भी स्वीकार किया गया है। वेदान्तदर्शन की तरह जैन दर्शन में जीव आत्मा एवं चेतन का स्वरूप है। जीव को प्राणी भी कहा जाता है। जीव के अन्तर्गत विशुद्ध ज्ञान भी स्थित हैं, किन्तु कर्म के प्रभाव के कारण संसार दशा में जीव का स्वभाविक एवं विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आच्दादित रहता है। जीव द्रव्य रूप में है। जीव में प्रदेश भी होता है। प्रदेशों को पर्याय कहा जाता है। जीव के नित्य परिणामी होने से इसमें प्रतिक्षण परिणाम होते रहते हैं। बद्ध एवं मुक्त दो तरह के जीव होते हैं। बद्ध या संसारी जीव दो तरह है। स्थावर जीव एकमात्र त्वक् इन्द्रिय सम्पन्न होते हैं। पृथिवी, जल, तेज वायु तथा वनस्पति ये सभी स्थावर जीव हैं। इसके अलावा मनुष्य, पशु, पक्षी, देव एवं नारकीय जीव त्रस अथवा जंगम जीव है।

२. <u>अजीव</u> - अजीव तत्त्व के ५ भेद होते हैं- धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल तथा काल। प्रथम चार अजीव तत्त्वों में अनेक प्रदेश होते हैं। अतः इन्हें 'आस्तिकाय' कहा जाता है। पाँचवाँ अजीव तत्त्व काल में क्योंकि एक ही प्रदेश है अतः वह अस्किाय नहीं है। उपर्युक्त अजीव द्रव्यों में केवल पुद्गल को छोड़कर सभी में रूप रस, गन्ध तथा स्पर्श वर्तमान नहीं है।

३. धर्मास्तिकाय - यह काय स्वतः अक्रियाशील रहता है। जिस तरह जल क्रियाशील मछली को उसकी क्रिया में सहायक सिद्ध होता हैं उसी तरह यह भी जीव तथा पुद्गलों की क्रिया में सहायक सिद्ध होता है।[1] धर्मास्तिकाय में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श का नितान्त अभाव है।

४. अधर्मास्तिकाय - यह धर्म के विपरीत है। किन्तु इसमें भी धर्मास्तिकाय के समान रूप रसादि का अभाव है। यह अमूर्त स्वभाव सम्पन्न है। जो जीव तथा पुद्गल जैसे पृथ्वी विश्राम दशा में है उनकी यह विश्रामार्थ सहायता करता है। अधर्मास्तिकाय भी लोकाकाश में धर्मास्तिकाय के सदृश व्याप्त रहता है।

५. अकाशास्तिकाय - जैन दर्शन के अनुसार जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गलों को अपनी-अपनी स्थिति के लिए जो स्थान है वही आकाश है।

६. पुद्गलास्तिकाय - जीव द्रव्य पुद्गल संघटन एवं विघटन के द्वारा परिणाम दशा को प्राप्त करता है। यह धर्मास्तिकाय के विपरीत रूप रसादि सम्पन्न है तथा मूर्त द्रव्य है। जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल में मृदु, कठिन, गुरु लघु, उष्ण , स्निग्ध तथा रुक्ष से आठ स्पर्श वर्तमान हैं। इसके साथ ही पुद्गल के अन्तर्गत तिंक्त, कटु, कषाय, मधुर तथा अम्ल ये पाँच रस वर्तमान हैं। पुद्गल में सुरभि तथा असुरभि दो तरह के गन्ध स्थित हैं। इसमें कृष्ण लोहित, पीत, नील तथा शुक्ल रूप में पाँच तरह के रूप वर्तमान हैं।[2]

७. काल- जैन दर्शन के अन्तर्गत काल की कल्पना विलक्षण व वैज्ञानिक है। यह काल निश्चय एवं नित्य है तथा पुद्गल और अन्य द्रव्यों के परिणामों का कारण है। काल की स्थिति सतत है, अत एव उसके कार्यरूप पुद्गल में सदैव गति वर्तमान रहती है। काल ही व्यावहारिक दृष्टि से समय है, जिसके दिवस, रात्रि, घण्टा एवं पलादि अनेक रूप हैं।

---

1. द्रव्यसंग्रह 17
2. तत्त्वार्थसूत्र 5-23

३. आस्रव तत्त्व- तृतीय तत्त्व जैन दर्शन का आस्रव तत्त्व है। आस्रव ही जीव के बन्धन का कारण है। आस्रव के सम्पर्क से ही जीव का वास्तविक स्वरूप आवृत हो जाता है और बृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जीवों के साथ उनके कर्म भी है। इनके साथ ही जीव अनादि स्वरूप अविद्या के कारण क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चार कषायों से भी युक्त है। जीव द्वारा कृत कर्म का फल संस्कार रूप से पुद्गलों के साथ वर्तमान रहता हैं। कर्म पुद्गल जड़ होने से जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। जैनाचार्यों ने मन-वचन तथा काय में क्रिया स्वीकार की है। जिसे योग कहा गया है। इन्हीं तीन के द्वारा कर्म पुद्गल जीवों में प्रवेश करते हैं। कर्म पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने से पहले जीव के प्रदेशों में मानसिक वाचिक एवं कायिक क्रियाओं के द्वारा स्पन्दन उत्पन्न होता है। इस तरह कर्म पुद्गलों के उपर्युक्त रोग द्वारा जीव में प्रवेश को जैन दर्शन में 'आस्रव' कहा गया है।

४. बन्ध तत्त्व- जीव के बन्ध का कारण कर्म हैं। जीव में कर्म पुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जो भावास्रव उत्पन्न होता है उसके फलस्वरूप जीव में भावबन्ध का भाव उत्पन्न होता है। कर्म पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने पर द्रव्यास्रव की उत्पत्ति के फलस्वरूप जीव में जो बन्धन का भाव उत्पन्न होता है, उसे द्रव्यबन्ध कहा जाता है। इस तरह आस्रव ही बन्धन का कारण है।

५. संवर तत्त्व- मोक्ष प्राप्ति हेतु जीव में कार्मिक पुद्गलों के प्रवेश को रोकना अत्यावश्यक है। यह कार्य संवर द्वारा ही संभव है। इस तरह आस्रव बन्धन एवं संवर मोक्ष का कारण है। पूर्व कृत कर्मों को निःशेष करके भावी कर्मों के मार्ग को अवरुद्ध करना 'संवर' कहलाता है।

इसके भावसंवर एवं द्रव्यसंवर दो भेद होते हैं। संवर के द्वारा जब जीव के राग द्वेष एवं मोह विकारों का निरोध होता है तो उसे भावसंवर कहा जाता है। जब कर्म पुद्गलों के जीव में प्रवेश का निरोध हो जाता है। तो उसे द्रव्य कहा जाता है। जीव में प्रविष्ट समस्त कर्म पुद्गलों के नष्ट होने पर ही जीव को मोक्ष-प्राप्ति होती है।

६. निर्जरा तत्त्व- जीव में चिपके अतीत के कर्म पुद्गलों का विनाश जिस तरह क्रिया द्वारा सम्पन्न होता है। वह निर्जरा है। इसकी प्राप्ति के लिए कठोर तप की आवश्यकता होती है। निर्जरा की प्राप्ति हेतु राग द्वेष आदि का विनाश आवश्यक है। यही आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया है।

७. मोक्ष तत्त्व- मुक्तावस्था में जीव कर्मपुद्गलों से मुक्त होने के कारण सर्वज्ञ व सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करता है। यह अवस्था जीव की भावमोक्ष अथवा जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में जीव के ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय एवं अन्तराय इन चार घातक कर्मों का नाश हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार उक्त अवस्था वास्तविक मोक्ष से पूर्व की अवस्था है।

***चार्वाक दर्शन*-:**-बौद्ध जैन दर्शनों की तरह भौतिकवादी चार्वाक दर्शन और औपनिषद दर्शन एवं गीता दर्शन की आध्यात्मिक विचारधारा की तीव्र प्रतिक्रिया का फल है। औपनिषद् आत्मवाद की घोर निन्दा, पुनर्जन्म एवं मोक्षादि आस्तिक दार्शनिक सिद्धान्तों का तर्कों के आधार पर अनौचित्य पूर्ण खण्डन करते हुए भौतिक सुखवाद का एकमात्र समर्थन ही चार्वाक दर्शन का उद्देश्य रहा है। चार्वाक दर्शन के आचार्यों की धारणा में भी आत्मतत्त्व का प्रभुत्व स्वीकृत था। इसीलिए उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को शरीरात्मवाद कहा है। चार्वाक अवैदिक होते हुए भी उपनिषदों का आभारी है। पूर्वपक्ष के रूप में भूतात्मवादी इन्द्रियात्मवादी प्राणात्मवादी एवं मन आत्मवादी चार्वाक दर्शन औपनिषद ही है।

स वा एष पुरुषोऽन्नमयः[१]

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः[२]

अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः (तै. उ. २/२/१ प्राणात्मवाद)

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।[३]

---

1. तैत्ति. उप. 2/1/1 (भूतात्मवाद)
2. छान्दो. उप. 5/2/6 (इन्द्रियात्मवाद)
3. तै. उप. 2/3/1

न्यायमञ्जरीकार ने भी इसे वैतण्डिक कथा के समान बतलाते हुए इसकी प्रामाणिकता का खण्डन किया है।

न हि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
वैतण्डिक कथावासौ न पुनः कश्चिदागमः।।

वाल्मीकि रामायण में चार्वाक की निरर्थकता के विषय में कहा गया है-

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणाँस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः।।
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते।।[1]

आचार्य बृहस्पति :- चार्वाक दर्शन के आचार्यों में बृहस्पति ही एक प्रामाणिक नाम है। अनेक ग्रन्थों में बृहस्पति प्रणीत कतिपय सूत्रों के उल्लेख मिलते हैं। बृहस्पति रचित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। जिन ग्रन्थों में बृहस्पति रचित सूत्रों का उल्लेख मिलता है उनमें भास्कर भाष्य, बह्मसूत्र शांकरभाष्य (३/३/५३) नीलकण्ठी टीका (गीता १६/११) श्रीमद् भागवत, श्रीधरी टीका, गीता-मधुसूदनी टीका एवं अद्धैत ब्रह्मसिद्धि हैं। बृहस्पति आचार्य रचित सूत्रों में जिन सिद्धान्तों के संकेत मिलते हैं। वे वस्तुतः चार्वाक के ही सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ 'कामएवैकः पुरुषार्थः' के अन्तर्गत काम को ही एक मात्र पुरुषार्थ कहा गया है।

चार्वाक दर्शन का कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठापरक ग्रन्थ नहीं मिलता है। चार्वाक का प्राचीन नाम लोकायत है। वैदिक शास्त्रीय प्रमाण को न मानने के कारण केवल बौद्धिक तर्कों का अनुसरण करने वाले भोगवाद तथा ऐहिक सुख के लिप्सु सामान्य जनों का दर्शन होने से इस दर्शन का नाम लोकायत पड़ा। ऐसा भी कहा जाता है कि वृहस्पति के शिष्य चार्वाक ने इस मत का विशेष प्रचार किया था। अत एव इसका नाम चार्वाक प्रसिद्ध हो गया।

एक अन्य मत के अनुसार चार्वी अर्थात् (चर्व खाने-पीने की) बुद्धि की बलवत्ता है। इसलिए कुछ लोग इसे चार्वाक कहते हैं।

---

1. रामायण अयो. का. अ. 112 श्लोक 38/39

चार्वो नामक एक आचार्य का उल्लेख भी काशिका[1] वृत्ति में मिलता हैं।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में देह का चैतन्य स्वीकार करने वाले प्राकृत जनों को लोकायतिक कहा है। पञ्चानन तर्करत्न ने लोकायत को लोक में विश्वास करने की वजह से लोकायत माना।

सिद्धान्त :- चार्वाक, न ईश्वर को जगत् का कारण मानता है तथा न ही किसी अन्य तत्त्व को। चार्वाक दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कार्यकारणवाद की कल्पना निरर्थक है। चार्वाक का मत है कि अग्नि की उष्णता एवं जल की शीतलता उसका स्वभाव है। अतः सृष्टि की उत्पत्ति स्वाभाविक है। स्वभाववाद के समर्थन में चार्वाक का मत है कि जिस तरह मयूरों का चित्र विचित्र वर्ण शोभित होना स्वाभाविक है एवं कोकिल की मधुर कूज स्वाभाविक है उसी तरह संसार में सब कुछ स्वभाव से घटित होता है।

चार्वाक दर्शन के समालोचक विद्वानों ने अनीश्वरवादी सांख्य के प्रधानकारणवाद में चार्वाक के स्वभावबाद की प्रतिकृति देखी है। इस सम्बन्ध में देवीप्रसाद चट्टोध्याय[2] कहते हैं-

यदि अपने मूल रूप में सांख्यदर्शन केवल प्रधानवाद था तो हमारा यह अपेक्षा करना भी स्वभाविक है कि यह स्वभाववाद भी था। क्योंकि स्वभाववाद के बिना प्रधानवाद अपूर्ण है। यह स्वभाववाद का सिद्धान्त हमें उस स्वभाव वाद का स्मरण करता है। जिसे बहुधा लोकायतिकों की विचारधारा माना जाता है।

तत्त्व मीमांसा :- लोकायतिकों की तत्त्व मीमांसा बड़ी ही स्थूल है। न इन्हें आत्मा स्वीकार्य है, न ही पूनर्जन्म, न मोक्ष। चार्वाक देह को ही स्वीकारता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार तत्त्वों को ही चार्वाक स्वीकारता है। आकाश को बौद्धों की तरह शून्य समझता है। इस तरह चार्वाक दर्शन आत्मवाद विरोधी है तथा वह भौतिकवादी व देहवादी है। ईश्वर व चेतन तत्त्व जगत् का स्रष्टा नहीं है। इस तरह जगत् की सृष्टि स्वाभाविक है। देहवादी होने से यह देह को ही चैतन्य समझता है।

---

1. नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिस्तत्सम्बद्धाचार्योऽपि चार्वी स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते। काशिका 1/3/36
2. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय लोकायत पृ. 308 (हि. अनु.)

चार्वाक भूत चैतन्यवादी है। भूतचैतन्यवाद के अनुसार भूतसङ्घ से चैतन्य की सृष्टि स्वभावतः है। जैसे गोमय (गोबर) से वृश्चिक उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और दिया जाता है वह यह है कि जिन पदार्थों से मदिरा बनती है।, उनमें मादकता नहीं होती किन्तु विभिन्न पदार्थों के संयोग से मादक मदिरा का निर्माण होता है। इसी तरह भूतसङ्घ संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

<u>धर्माचरण</u> :- चार्वाक का समस्त व्यवहार एवं आचार भोगपरक है। इस तरह दर्शनों में धर्माचरण मोक्ष का साधन है। चार्वाक मृत्यु को ही मुक्ति मानता है। मरणमेवापवर्गः। इसीलिए यह पुरुषार्थ चतुष्टय में केवल काम को ही पुरुषार्थ मानता है। अर्थ को वह काम के निमित्त स्वीकार मानता है। इसी तरह वैदिक धर्म में श्राद्ध कर्म के प्रति भी चार्वाक की पूर्ण अनावस्था है। उसकी दृष्टि में श्राद्धादि कर्मकाण्ड पाखण्ड मात्र है। चार्वाक के अनुसार *'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत'* सिद्धान्त ही वरीयान् है।

चार्वाक का मत है कि देह ही सब कुछ है, उसकी पुष्टि के लिए ऋण लेना अनुचित नहीं है। *'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'* मृत्यु के पश्चात् संसार में कुछ भी नहीं है। ऐहिक सुख की प्राप्ति ही स्वर्ग है, सांसारिक दुःख ही नरक है। चार्वाक मत में दुःखभय से सुख का परित्याग नहीं करना चाहिए। जैसे मछली का इच्छुक व्यक्ति छिलके तथा काँटों समेत उसे ग्रहण करता है। या जैसे तण्डुल का इच्छुक व्यक्ति उसके छिलके एवं भूसी रहित उसे ग्रहण करता है। उसका मत है कि दुःख के भय से सुख का त्याग आवश्यक नहीं हैं। जैसे कि चावल के साथ भूसी का भी ग्रहण होता है। चार्वाक का कथन है कि पशुओं द्वारा चर लिए जाने के भय से धान्य बोना बन्द नहीं किया जाता। भिक्षुओं के माँगने के भय से भोजन बनाना रोक नहीं दिया जाता।

आस्तिक दर्शन और उनका परिचयात्मक विवरण-आस्तिक दर्शनों में सांख्य, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक योग, व मीमांसा की मान्यता है। ये सभी दर्शन ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म व मोक्ष आदि सिद्धान्तों को मानते हैं। इसलिए इन्हें आस्तिक दर्शन कहा जाता है। प्रायः सभी दर्शनों ने संसार, जीव, जागतिक पदार्थों की सत्ता व असत्ता की गहन मीमांसा करके मानव को उसके जीवन में यर्थाथ ज्ञान का जागरण कराया है, उसे उसके अन्तिम लक्ष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग दिखाया है।

सर्वप्रथम सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय इस प्रकार है-

सांख्य दर्शन :- सांख्य दर्शन वैदिक व औपनिषद दर्शन है। सांख्य के सत्कार्यवाद के स्रोत के स्वरूप में *'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'* एवं ऋग्वैदिक पुरुष सिद्धान्त (सहस्रशीर्षा पुरुषः) को सांख्यवर्ती पुरुष सिद्धान्त के मूल स्रोत के रूप में उद्धृत करते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद्[१] में 'असङ्गो हययं पुरुषः एवं कठोपनिषद् के पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः' (कठ. उप. ३/११) आदि वचनों में सांख्य के पुरुष सिद्धान्त का मूल स्रोत विद्यमान हैं। इसी तरह *'सदैव सौम्य इदमग्रे आसीदेकमेवाद्वितीयम्'*[२] आदि सत् तत्त्व निरुपक औपनिषद् सिद्धान्त निसन्देह सांख्य सत्कार्यवाद के मूल हैं। उपनिषदों में सांख्य-प्रकृति का *'दर्शन-अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'*[३] इस उपनिषद् वचन में हो जाता है। सांख्य के औपनिषद् होने का समर्थन करने वाले विद्वानों का यह भी तर्क है कि उपनिषदों में परिणामवाद उपलब्ध होता है, वही सांख्य परिणामवाद का मूल बीज है।[४]

---

1. बृह. उप. 4/3/15
2. छान्दो. 6/2/1
3. श्वेता. 3, 5-4
4. छान्दो. उप. 6/1/4

गीता में सांख्य योग निरूपक अध्याय ही है। सांख्याचार्य आसुरि कपिल आदि का नाम व उनके सिद्धान्त साक्षात् वहाँ निरूपित है। पुराणों में सांख्य दर्शन का अनुशीलन करने वाले विद्वानों का कथन है कि ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत चौबीस भेदों वाली प्रकृति को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति कहा है। इसी प्रकार विष्णु पुराण में पुरुष को परब्रह्म का रूप कहा है।

सांख्य बुद्ध पूर्ववर्ती है। वैदिक हिंसा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्धों ने अहिंसावाद की विचारधारा का तथा कर्मकाण्ड का निराकरण करते हुए अनीश्वरवाद का प्रचार किया था। इसी से बौद्ध अवैदिक रूप में समझे गए। बौद्ध दर्शन से सांख्य से महत्त्वपूर्ण प्रेरणा प्राप्त की। उदाहरणार्थ ऐसा उल्लेख है कि बुद्ध ने अराडकलाम नामक सांख्य विद्वान् से बुद्ध सांख्य ज्ञान प्राप्त किया था। सांख्य ने शुद्ध चित् (पुरुष) जो न भ्रमात्मक है न ही अमूर्त धारणा, अपितु वह अनुभवातीत तत्त्व है। यह प्रत्येक व्यक्ति में पृथक-पृथक है। इसी से पुरुष की सत्ता सिद्ध होने से सांख्य वैदिक हो गया तथा अनीश्वरवादी होने से बौद्ध अवैदिक माना गया।

वेद एवं गीता की तरह पुराणों में सांख्य दर्शन के तत्त्व मिलते हैं। ब्रह्मपुराण में चौबीस भेदों वाली प्रकृति को ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहा है। इसी तरह विष्णु पुराण में परब्रह्म का रूप कहा गया है। व्यक्त-अव्यक्त एवं काल भी परब्रह्म के ही रूप हैं।[1] सांख्य अध्येताओं का कथन है कि शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण के अन्तर्गत प्राप्त निम्न पद्य सांख्य सिद्धान्त के बोधक हैं।

यत्तदेकाक्षंर ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्यम्।।[2]

गीता में सांख्य सिद्धान्त प्रकृति परिणामवाद तथा पुरुष का अकर्तव्य आदि स्पष्टतया उपलब्ध होते हैं-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविभूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।।[3]

---

1. परस्य ब्रह्मणे रूपं पुरुषः प्रथमं द्विजः।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्।। विष्णु पुराण 1/2/15
2. महाभारत 218/14
3. गीता 3/26

सांख्य सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य व कृतियाँ___ **कपिल** :- सांख्य सूत्र नामक ग्रन्थ कपिल के नाम से मिलता है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ६ अध्याय तथा ५३६ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में सांख्य के मूल सिद्धान्त जिसमें दुःखत्रयानिवृत्ति एवं मोक्षादि विषय आते हैं। द्वितीय में प्रधान का तृतीय में वैराग्य व चतुर्थ में सांख्य तत्त्व बोधक आख्यायिकाओं, पञ्चम में परपक्ष का निराकरण तथा षष्ठ अध्याय में सांख्य सिद्धान्तों जैसे पुरुष आदि का निरूपण किया गया है। कपिल का दूसरा ग्रन्थ तत्त्वसमास है। तत्त्वसमास की अनेक टीकायें मिलती है। वैसे कपिल नामक अनेक व्यक्ति शास्त्रों में उद्धृत हैं। वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्र (१/२५) की टीका में कपिल को हिरण्यगर्भ कहा है।[1] पाश्चात्य विद्वान् कीथ भी इस मत को स्वीकारते हैं। भगवान् कृष्ण ने स्वयं को गीता में कपिल मुनि कहा है।
आसुरि :- ये कपिल के शिष्य थे। महाभारत में आसुरि को पञ्चशिख का गुरु कहा गया है। अतः आसुरि का काल ७०० ई. से पूर्व माना जा सकता है। इनके द्वारा रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।
पञ्चशिख :- आसुरि के ये शिष्य थे। पञ्चशिख पञ्चरात्र अथवा भागवत सम्प्रदाय के भी विज्ञाता थे। इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। षष्टितन्त्र के रचयिता के रूप में कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं। परन्तु वे प्रामाणिक नहीं है।
ईश्वरकृष्ण :- ईश्वरकृष्ण का काल ई.पू. द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है। इनके द्वारा रचित सांख्यकारिका ग्रन्थ सांख्य दर्शन के समस्त ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ईश्वरकृष्ण ने कपिल, आसुरि, पञ्चशिख द्वारा प्रचारित सांख्य विचारधारा का अनुसरण किया हैं।[2] सांख्यकारिका कनक सप्तति, सांख्यसप्तति, सुवर्ण सप्तति तथा हिरण्यसप्तति के नाम से प्रचलित है। सांख्यकारिका में ७० कारिकायें ही होनी चाहिए, किन्तु प्राप्त ७२ कारिकाओं में ६८ कारिका तक ही सांख्य सिद्धान्त विवेचित है।

---

1. कपिलो स्वयंभूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते तत्त्ववैशारदी।
योо सूо 1.25

2. सांख्यकारिका। का.70

सांख्यकारिका की टीकओं में गौडपादभाष्य, माठर वृत्ति, जयमङ्गला, चन्द्रिका, सांख्यतरुवसन्त, सांख्यतत्त्वकौमुदी (वाचस्पतिमिश्रकृत) तथा युक्तिदीपिका सुवर्ण सप्तति प्रमुख हैं।

विज्ञानभिक्षु :- विज्ञानभिक्षु सांख्य योग वेदान्त तीनों शास्त्रों में निष्णात थे। इन्होंने सांख्यसूत्र पर सांख्यप्रवचनभाष्य योगदर्शन पर योगवार्तिक एवं वेदान्त पर विज्ञानामृतभाष्य की रचना की है। ये एक समन्वयवादी दार्शनिक थे। इन्होंने सांख्य-वेदान्त सिद्धान्तों के सामञ्जस्य पर बल दिया है।

सांख्यसिद्धान्त :- सांख्यदर्शन आध्यात्मिक आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति करता है। वैदिक लौकिक उपायों से वह सम्भव नहीं है। इसमें प्रकृति मुख्य तत्त्व है। कुल २५ तत्त्व सांख्य दर्शन में प्रतिपादित हैं।
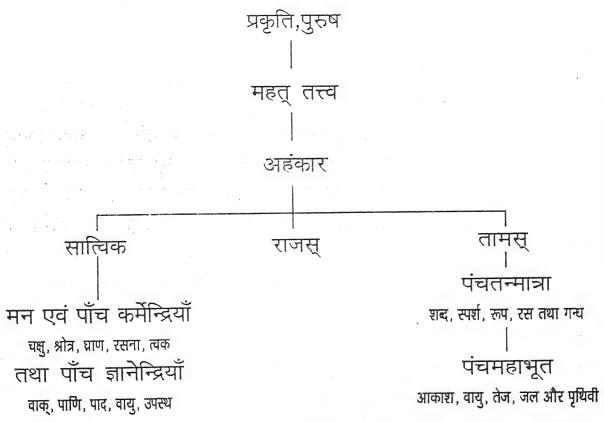
इस तरह सांख्य दर्शन में प्रकृति, पुरूष, महत् तत्त्व अहङ्कार, तन्मात्रा, पंचमहाभूत, एकादश इन्द्रिय में २५ तत्त्व स्वीकृत है। इसका विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में विवेचित होगा।

योगदर्शन का संक्षिप्त परिचय- योगदर्शन के मूल में सांख्य प्रतिफलित जिज्ञासायें एवं शङ्कायें किसी न किसी रूप में वर्तमान थीं। यह दर्शन सांख्य से पूर्णतया प्रभावित है, किन्तु इसकी मान्यतायें कुछ भिन्न ही हैं। योगदर्शन में यह मान्यता की गई कि चेतन पुरुष की स्वीकृति होने पर चेतन पुरुष स्वरूप ईश्वर जो सर्वज्ञ एवं शक्तिमान् है, उसकी इच्छा के फलस्वरूप गुणों के वे प्रतिबन्ध निवृत्त हो जाते हैं जो गुणों के परिणाम में बाधक होते हैं। परिणामतः गुणों से पुरुष की भोग व मोक्ष की सिद्धि सम्भव होती है। योग दर्शन के प्रमुख आचार्य व ग्रन्थों का परिचय निम्नाङ्कत हैं।

पंतञ्जलि :- योगदर्शन के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य महर्षि पतञ्जलि हैं। इनका स्थितिकाल ई. पू. द्वितीय शताब्दी है। वैसे कुछ पाश्चात्य विद्धान् इन्हें तृतीय व चतुर्थ शताब्दी में भी मानते हैं। वैंसे पतञ्जलि नाम से तीन विद्वानों का नाम आया है। योग दर्शनकार पंतञ्जलि, महाभाष्यकार, पतञ्जलि व आयुर्वेदकार पतञ्जलि। ऐतिहासिकों ने योगदर्शन व महाभाष्य के कर्ता पंतजलि को एक ही माना है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् दोनों को पृथक्-पृथक् भी मानते हैं।

योगदर्शन वैदिक उपनिषदों से साक्षात् प्रभावित हैं जैसे श्वेताम्बर उपनिषद् (२१७-१५) में क्रियात्मक योग का विशेष निरुपण उपलब्ध है। इसी तरह छान्दोग्य वृहदारण्यक एवं कठ आदि उपनिषदों में योग विषयक वर्णन मिलते है। जैसे कि छान्दोग्य उपनिषद् (८/६) वृहदारयण्क उपनिषद् (४-३-२०) एवं कौषीतकि उपनिषद् (४/१६) के अन्तर्गत हृदय से पुरीतत तक जाने वाली हिता नामक नाड़ियों का वर्णन मिलता है। यही पुरीतत् योग कहा जाता है। इसके अलावा बौद्ध धर्म के पालि त्रिपिटकों एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में योग सम्बन्धी विशिष्ट वर्णन मिलते हैं। जैन ग्रन्थों में भी योग सम्बन्धी वर्णन स्पष्टतया उपलब्ध है।

योग भाष्य :- योग भाष्य अथवा व्यासभाष्य की रचना व्यास जी ने योगसूत्र के सिद्धान्तों के विशदीकरणार्थ की थी। ये व्यास वेद व्यास से भिन्न थे। योग भाष्य के अन्तर्गत अनेक स्थानों पर बौद्ध प्रभाव देखने को मिलता है। अतः योगभाष्य का रचनाकाल विक्रम की तृतीय शती माना जाता है।

वाचस्पति मिश्र :- योगसूत्र पर आधारित व्यासभाष्य के तात्पर्य को समझना सरल नहीं है। एतदर्थ सर्वदर्शन पण्डित वाचस्पति मिश्र ने भाष्याशय के बोध की दृष्टि से तत्त्व वैशारदी की रचना की। वाचस्पति मैथिल थे। न्यायदर्शन के क्षेत्र में 'न्यायतात्पर्य टीका' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

पातञ्जल योगसूत्र की टीकायें :- पातञ्जल योगसूत्र की टीकाओं में भोज प्रणीत भोजवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका वास्तविक नाम राजमार्तण्ड है। योगसूत्र पर भावगणेश की वृत्ति प्रसिद्ध है। भावगणेश सांख्य के भी विद्वान् थे। इसके अलावा रामानन्दयति की मणिप्रिया अनन्तपण्डित प्रणीत योग चन्द्रिका सदा शिवेन्द्र सरस्वती रचित योगसुधारक एवं नागो जी भट्ट कृत लघ्वी एवं बृहतीवृत्तियाँ योगदर्शन के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

योग शब्द का अर्थ :- योग की परिभाषा योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात्चित्रवृत्तियों का निरोध ही योग है। इस शब्द की निष्पत्ति युज् धातु से हुई है। योग का सही अर्थ समाधि है। बाह्य वृत्तियों के विरोध और निरोध के फलस्वरूप समस्त वृत्तियों और संस्कारों का प्रविलय होने पर ही योग की उत्पत्ति होती है। वैसे हठ योग, मन्त्र योग लय योग आदि योग के कई भेद मिलते हैं।

चित्त एवं चित्रवृत्ति :- चित्त ही कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को तत्-तत् कार्यों में प्रवृत्त करता है। इस तरह सत्कर्म का प्रेरक एवं प्रवर्तक होने के कारण मन ही मोक्ष का कारण है। ज्ञान साध्य मोक्षार्थ अपेक्षित चित्त शुद्धि सत्कर्म द्वारा ही सम्भव है। चित्त की परिष्कृति एवं शुद्धि के लिए सात्विक आहार भी अपेक्षित होता है। जैसा आहार होगा वैसा ही चित्त का निर्माण होगा। गीता में प्रतिपादित है कि योगी पुरुष का आहार एवं विहार नियत परिमाण वाला होना चाहिये।

युक्ताहार बिहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

चित्त में चित्तवृत्ति एवं संस्कार का चक्र सततरूप से चलता रहता है। जब कोई व्यक्ति किसी आध्यात्मिक सत्संग में जाता है तो उसके धार्मिक एवं आध्यात्मिक संस्कारों में दृढ़ता आती है। यही वृत्ति है। सात्विक आहार एवं विहार से सात्विक संस्कारवान् एवं सात्विक वृत्ति सम्पन्न चित्त का निर्माण होता है। राजसु एवं तामस् आहार बिहार से रजोगुणी एवं तमोगुणी चित्त का निर्माण होता है।[१] चित्रवृत्ति के निरोध का अर्थ एकाग्रावस्था एवं निरुद्ध अवस्था के निरोध से लिया है। चित्त को दुष्कृत्यों से रोकना संयम है। योगदर्शन में मन, बुध्दि एवं चित्त में भेद नहीं किया गया है। चित्त त्रिगुणात्मक होने से परिणामी होता है। प्रथम अवस्था का चित्त सत्त्व प्रधान होता हुआ रज एवं तम से संयुक्त होकर अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है। तमोगुण से युक्त चित्त अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य से संयुक्त होता है।

योग दर्शन का विस्तृत विवरण आगे 'योग दर्शन में कैवल्य' चतुर्थ अध्याय में दिया जायेगा।

न्याय - वैशेषिक दर्शन- न्याय दर्शन वेद उपनिषद् तथा बौध्द मीमांसा दर्शन से प्रभावित दिखाई देता है। उपनिषदों के अन्तर्गत न्याय शास्त्र के सूत्र स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत पुरीतत् नामक नाड़ी में अन्य नाड़ियों के द्वारा आत्मा के स्थान पर मन को स्वीकार किया गया। इसी तरह छान्दोग्य उपनिषद्[२] में आकाश को शब्द का वाहक कहना उत्तरवर्ती न्याय सिद्धान्त का ही बीज है। इसी तरह श्वेताश्वतर मुण्डक आदि उपनिषदों में भी न्यायदर्शन के सुस्पष्ट सिद्धान्त सूत्र उपलब्ध होते है न्यायदर्शन का उदय तब हुआ जब हिन्दू सन्तों

---

1. गीता 1-2।
2. गीता 17/8/10
3. छान्दो0उप0 7 / 14/ 1

व गौतम बुद्ध के शिष्यों में एक दूसरे के मत खण्डनार्थ परस्पर असम्बद्ध एवं पक्षपातपूर्ण विवाद हो रहे थे तथा खण्डन मण्डन चल रहा था। दोनों की सुसम्बद्ध खण्डन प्रक्रिया में न्याय वैशैषिक का मूल वर्तमान था। बौद्ध सुत्तों में न्याय वैशैषिक सांख्य एवं योग के स्पष्ट एवं अस्पष्ट संकेत मिलते हैं। इसी तरह जैनों के आगम ग्रन्थों में प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण प्रमेय एवं जाति आदि पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं। इससे न्याय वैशेषिक बौद्धों से प्राचीनतर होना सिद्ध होता है। अतः वैशेषिक सूत्रों का रचनाकाल ५०० ई.पू. एवं न्याय सूत्रों का रचनाकाल १५० ई.पू. है।

वैशेषिक सूत्र न्याय से प्राचीनतर है। वैशेषिक सूत्र का प्रारम्भ धर्म के स्वरूपनिरुपण में किया गया है। अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

न्याय दर्शन का आधार भूत ग्रन्थ गौतम अक्षपाद प्रणीत न्यायसूत्र है। न्यायसूत्रों पर सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र (९०० ई.) ने न्यायसूची निबन्ध के अन्तर्गत विचार किया है। वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ में न्यायसूत्र के अध्यायों (५) आह्निकों (१०) प्रकरणों (८४) सूत्रों (२०६) तथा (८४११) अक्षरों की संख्या दी हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि गौतम एवं अक्षपाद भिन्न-भिन्न थे। इस सम्बन्ध में डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने विशेषतया विचार किया। अक्षपाद गौतम आन्वीक्षिकी के वर्तमान न्यायसूत्र के प्रस्तुतकर्ता थे जिस तरह कि चरक आत्रेय प्रणीत अग्निवेशतन्त्र (आयुर्वेद) के सम्पादनकर्ता थे। वैसे गौतम, अक्षपाद व मेघातिथि एक ही व्यक्ति के नाम हैं। वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट उदयनाचार्य एवं श्रीधराचार्य आदि ने गौतम एवं अक्षपाद को ही एक ही माना है।

<u>न्याय शब्द का अर्थ</u> :- प्राचीन काल में न्याय के लिए 'अन्वीक्षिकी' का प्रयोग प्रायः होता था। आन्वीक्षिकी का उल्लेख उपनिषदों, रामायण, महाभारत मनुस्मृति गौतम धर्मसूत्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। वात्स्यायन[1] के अनुसार प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व का परीक्षण 'न्याय'

---

1. वात्स्यायन भाष्य 1/1/1

कहा जाता है– प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। पारिभाषिक अर्थ में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, परार्थानुमान इन पाँच अवयवों को न्याय कहा जाता है।

कौटिल्य (ई.पू. ३००) ने अपने अर्थशस्त्र (द्वितीय अधाय) के अन्तर्गत न्याय अथवा वैशेषिक का उल्लेख न करके आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति के अध्ययन पर बल दिया है। अनुमान की प्रक्रिया का हेतु प्राण है। अतः न्याय हेतु शास्त्र एवं हेतु विदा के रूप में भी प्रख्यात है। वाद विद्या एवं तर्क विद्या के रूप में भी न्याय शब्द का व्यवहार होता है। वात्स्यायन ने न्यायदर्शन को समस्त विद्याओं का प्रदीप कहा है।[1] इसीलिए इस दर्शन की अपेक्षा समस्त शास्त्रों के तत्त्वबोध के लिए आवश्यक है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में न्यायदर्शन की तर्क पद्धति का अनुसरण किया है। मनु ने भी वेदशास्त्र सम्मत तर्क की उपादेयता धर्म के सम्यग् ज्ञान के लिए स्वीकार की है।[2]

वैसे न्यायशास्त्र की तर्क दृष्टि का आरम्भ संहिताओं के अन्तर्गत ही हो जाता है। निदर्शनार्थ मीमांसकों ने श्रौतानुष्ठान के विरोध के परिहारार्थ प्रथम बार तर्क पद्धति का अनुसरण किया था।

प्राचीन एवं नव्य न्याय :- न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पुराना है। न्याय की दो प्रसिद्ध धारायें हैं। प्रथम धारा के उद्गमस्थल आचार्य गोतम के सूत्र हैं। दूसरी धारा के अन्तर्गत गंगेश उपाध्याय (१२वीं शताब्दी) रचित तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ है। पहली धारा प्राचीन धारा में षोडश पदार्थों का निरूपण तथा दूसरी धारा में प्रमाणों की मीमांसा की गई।

प्राचीन न्याय अध्यात्म प्रधान है तथा नव्यन्याय तर्क प्रधान है। नव्य न्याय की तर्क प्रणाली अधिक मुखर एवं आकर्षक है।

गोतम या गौतम :- गोतम इनका गोत्र नाम था। व्यक्तिगत नाम अक्षपाद था। ये मिथिला के निवासी थे।

---

1. प्रदीपः सर्वाविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्मणां विद्योद्देशे प्रकीर्तितः।। वात्स्यायन न्यायभाष्य 1,1,1
2. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्र विरोधिता।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।। मनुस्मृति 12/10/6

डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार गौतम एवं अक्षपाद दो आचार्य थे। वैसे अन्य न्याय-दर्शन विचारक दोनों को एक ही मानते हैं। इनके द्वारा प्रणीत न्यायसूत्र का प्रणयन द्वितीय शतक में हुआ था। इन मतों से भिन्न सतीशचन्द्र विद्या भूषण के अनुसार न्याय सूत्र की रचना विक्रम पूर्व षष्ठ शतक में हुई थी।[1]

न्याय दर्शन के अन्तर्गत प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान इन १६ पदार्थो के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है।

न्याय सूत्र का संक्षिप्त वर्ण्य विषय- न्याय दर्शन या न्याय सूत्र का प्रमुख विषय प्रामण निरुपण है। गोतम ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व आप्त इन चार प्रमाणों की न्यायसूत्र के अन्तर्गत विस्तार से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त प्रमाणज्ञेय प्रमेयों आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग की व्याख्या की गई है। आत्मा, मन तथा शरीर से भिन्न है। इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य जीव को शरीर, इन्द्रिय एवं इन्द्रिय विषयों से मुक्ति (अपवर्ग) की प्राप्ति कराना है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा ही सदसत् कर्म के फल का भोक्ता, राग द्वेषादि का कर्ता एवं जन्म मरण के बन्धन का भोक्ता है। अतः प्रमाण-प्रमेयादि के तत्त्वज्ञान से मुक्ति भी आत्मा की ही होती है।

भाष्यकार- १. वात्स्यायन :- प्रथम भाष्य वात्स्यायन ने न्यायसूत्रों का किया है। इनका स्थितिकाल द्वितीय शताब्दी है।

२. उद्योतकर :- ६०० ई.पू. उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखकर न्यायशास्त्र की दुरुह ग्रन्थियों को सुलझाया है।

३. वाचस्पति मिश्र :- उद्योतकराचार्य के वार्तिक सरल नहीं थे। अत एव वाचस्पति ने तात्पर्य टीका लिखी थी। यह टीका इतनी प्रसिद्ध हुई कि वाचस्पति मिश्र तात्पर्याचार्य के नाम से प्रख्यात हुए। ये भारतीय दर्शन के दिग्गज थे। इन्होंने वैशेषिक को छोड़कर सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी थीं।

---

1. न्यायभाष्य म.म. गोपीनाथ कविराज अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ. 1-8 कलकत्ता

४. <u>जयन्त भट्ट</u> :- (६०० ई.) जयन्त भट्ट ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'न्यायमंजरी' के अन्तर्गत न्यायसूत्र के कतिपय सूत्रों की टीका की है। न्यायमञ्जरी जयन्त भट्ट का अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ है।

५. <u>उदयनाचार्य</u> :- (६८४ ई.) उदयनाचार्य प्राचीन न्याय के प्रौढ़ एवं अत्यन्त प्रख्यात आचार्य है। इन्होंने न्याय कुसुमाञ्जलि के आधार पर विशेष ख्याति अर्जित की। न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयानाचार्य ने अनीश्वरवाद का खण्डन करके ईश्वर के अस्तित्त्व का युक्तिपूर्ण मण्डन किया था। उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि के अन्तर्गत अनुमान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्त्व की सिद्धि प्रतिपादित की। उदयनाचार्य ने प्रलयकाय में तीन द्वयणुकों में तीन द्वयणुकों से त्र्यणुक की अपेक्षा ईश्वर के अतिरिक्त किसी और में नहीं हो सकती।[1] उदयनाचार्य के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ है- एक तात्पर्यशुद्धि और दूसरा आत्म तत्त्व विवेक। तात्पर्य टीका परिशुद्धि वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका की है।

नव्य न्याय के आचार्य- <u>आचार्य गंगेश उपाध्याय</u> :- नव्य न्याय के ग्रन्थों में गंगेश उपाध्याय रचित ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' प्रमुख है। गंगेश ही नव्य न्याय के प्रमुख प्रतिष्ठापक हैं। इन्होंने प्राचीन न्याय प्रतिपादित पदार्थशास्त्र के स्थान पर प्रमाणशास्त्र का प्रतिष्ठापन एवं प्रतिपादन किया था। गंगेश ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के अन्तर्गत केवल प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान इन चार प्रमाणों का नवीन शैली में प्रतिपादन करके नव्यन्याय शैली की परम्परा का प्रवर्तन किया, जिसने पक्षधर मिश्र आदि नव्यन्याय के अनेक उद्भट विद्वानों को जन्म दिया। गंगेश की अवच्छेदकावच्छेदक अनुयोगी एवं प्रतियोगी की परिष्कार शैली कुछ कठिन अवश्य हैं, परन्तु भाषा शैली बड़ी मनमोहक है। संस्कृत भाषा का प्रौढ़ रूप नव्यन्याय में ही देखने को मिलता है। मिथिला के विद्वानों का नव्य न्याय में विशेष योगदान है। इसी तरह बंगाल (नदिया) में न्याय दर्शन की पीठ थी। नव्य न्याय की शैली का कुछ अनुकरण वेदान्त, व्याकरण एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा भी ग्रन्थ लेखन में समादर के साथ किया गया है।

---

1. कार्ययोजन वृत्त्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
   वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।। न्याय कुसुमाञ्जलि 5-1

<u>रघुनाथ शिरोमणि</u> :- (१५०० ई.) रघुनाथ शिरोमणि बंगाल के निवासी थे। इन्होंने तत्त्व चिन्तामणि की आलोक टीका पर दीधीति नाम्नी टीका लिखी थी। जिसका विद्वत्समाज ने विशेष आदर किया था।

<u>मथुरानाथ भट्टाचार्य</u> :- (१५८० ई.) मथुरानाथ भट्टाचार्य शिरोमणि के शिष्य थे। इन्होनें भी तत्त्व चिन्तामणि तथा दीधीति पर टीकायें लिखी थी।

<u>जगदीश भट्टाचार्य</u> :- (१५६० ई.) जगदीश भट्टाचार्य अपनी 'जागदीशी टीका' के प्रणयन लिए प्रसिद्ध हैं। जागदीशी दीधीति की टीका है। जगदीश भट्टाचार्य का एक ग्रन्थ 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' भी है।

<u>गदाधर भट्टाचार्य</u> :- (१५६० ई.) इनकी प्रमुख रचना गदाधरी है। यह दीधीति की टीका है। गदाधर भट्टाचार्य ने उदयन प्रणीत आत्मतत्त्वविवेक तथा गंगेश रचित तत्त्व चिन्तामणि पर गदाधरी व्याख्या लिखी है। इनके द्वारा प्रणीत मौलिक ग्रन्थों में व्युत्पत्तिवाद एवं शक्तिवाद विशेषतः समादृत हैं।

सिद्धान्त- १. <u>षोषड पदार्थ</u> :- इस दर्शन में षोडश प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान हैं।

<u>प्रमाण</u> - प्रमाण की परिभाषा-प्रमीयतेऽनेन प्रमाणम्[1] जिसके द्वारा प्रमिति की जाए, वह प्रमाण होता है। इस तरह तत् तत् प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द की व्याख्या भी करण मूलक व्युत्पत्ति के आधार पर करनी चाहिए। जिसके द्वारा व्यक्ति ईप्सित अर्थ को जानता है, वह प्रमाण है।[2] प्रमेय वह ईप्सित पदार्थ है जो जाना जाता है तथा प्रमिति ईप्सित अर्थ का यर्थाथ ज्ञान है। उदयनाचार्य ने उक्त मत की पुष्टि करते हुए 'यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्' कहा है।

न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने गए हैं। बारह प्रमेयों आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि मनस् प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव फल, दुःख तथा अपवर्ग एवं उक्त चार प्रमाणों के ज्ञान द्वारा पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है। चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण

---

1. न्यायसूत्र भाष्य- 1,1,3
2. स येनार्थ प्रमिणोति तत् प्रमाणम् वात्स्यायनभाष्य 1,1,2

को ही स्वीकार किया है। सांख्य के अन्तर्गत प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अलावा शब्द प्रमाण को भी स्वीकार किया है। मीमांसक प्रभाकर ने उक्त प्रमाणों साथ उपमान व अर्थापत्ति को भी स्वीकार किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण :- न्याससूत्रकार गोतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा है कि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (संयोग) से जो अव्यपदेश अकथनीय) अव्यभिचारी (संशय और विपर्यय आदि दोनों से रहित) व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। गंगेश के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण 'साक्षात्कारित्व' (प्रत्यक्ष साक्षात्कारित्त्वं लक्षणम्) इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय तथा किसी वस्तु के सन्निकर्ष से जो साक्षात् यथार्थानुभव होता है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।[१] तथा इस ज्ञान में सर्वाधिक सहायक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुमान :- परोक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा सम्भव है। न्याय के आचार्यों के अनुमान की एकाधिक परिभाषायें प्रस्तुत कीं।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधिमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च। इस तरह प्रत्यक्षपूर्वक अनुमितिकरण को अनुमान कहा जाता है। वात्स्यायन ने कहा है कि उक्त परिभाषा के अन्तर्गत तत्पूर्वक से लिंङ्ग, लिंङ्गी (हेतु, हेतुमान) का सम्बन्ध तथा लिंङ्ग दर्शन इन दोनों का परामर्श कर लेना चाहिए।[२] परोक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। सर्वप्रथम लिंग, लिंगीं, सपक्ष, लिंग, परामर्श एवं व्याप्ति का बोध आश्यक है।

न्याय दर्शन सम्प्रदाय विस्तृत रूप से चतुर्थ अध्याय में विवेचित है।

---

1. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मव्यपदेश्यव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।
न्यायसूत्र 1,1,4 बौद्ध भारती वाराणसी 1939।

2. तत्पूर्वकमित्यनेन लिंङ्गलिङ्गनोः।
सम्बनधदर्शनं चाभिसम्बध्यते।।

पूर्वमीमांसा दर्शन का संक्षिप्त परिचय- मीमांसा का मूल यज्ञ कर्म परक संहिताएँ एवं ब्राहमण ग्रन्थ ही हैं, किन्तु इस दर्शन की प्रस्थापना विश्लेषण एवं विस्तार जैमिनि एवं अनेक आचार्यों तथा व्याख्याकारों द्वारा सम्पन्न हुआ है। दैनिक आचार की पवित्रता एवं विविध प्रकार के कर्म धर्म एवं विविध संस्कारों की निष्पत्ति एवं निर्वाह की व्यवस्था मीमांसा दर्शन में ही की गई थी। मीमांसा ने ही स्वर्गादि के उद्देश्य से शुभ कर्मों के सम्पादन एवं अशुभ कर्मों के परित्याग से जीवन निर्वाह का पाठ सिखाया था। 'स्वर्गकामों ज्योतिष्टोमेन यजेत ब्राह्मणो न हन्तव्यः।' मीमांसा एक आचारमयी तथा स्वर्ग एवं मोक्षपरक पवित्र जीवन पद्धति है।

वैदिक यज्ञ सम्पादन की सफलता का आधार कर्मकाण्ड की विधि थी। विधिपूर्वक किया गया यज्ञ ही सफल माना जाता था। यज्ञविधियों एवं कर्मकाण्ड की युक्ति युक्तता का विश्लेषण एवं विवेचन मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत किया जाता। मीमांसा दर्शन के आरम्भ की यही भूमि है।

आचार्य एवं व्याख्याता :- इस दर्शन के प्रमुख प्रस्थापनाचार्य जैमिनि (ई.पू. २००) हैं। इनकी प्रशस्तिकृति 'मीमांसा सूत्र' मीमांसा दर्शन की सर्वाधिक प्रमाणिक एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। मीमांसा सूत्र के अन्तर्गत आत्रेय, आलेखन, आश्मरथ्य, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि बादरायण, बाहरि एवं लालुकायन का उल्लेख मिलता है। इनकी कृतियों का संकेत नहीं मिलता। मीमांसा सूत्र के अन्तर्गत १६ अध्याय है। आरम्भ के १२ अध्याय द्वादशलक्षणी कहे जाते हैं। शेष चार अध्याय संकर्षण काण्ड अथवा दैवतकाण्ड के नाम से प्रख्यात हैं। मीमांसासूत्र के प्रथम अध्याय में धर्म पुराणों का निरूपण, द्वितीय अध्याय में शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुणा तथा प्रकरणान्तर (कर्मभेद) का विवेचन, तृतीय अध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण स्थान तथा समस्या चतुर्थ में श्रुति, अर्थ, पाठस्थान, मुख्य तथा प्रवृत्ति, पंचम में क्रम षष्ठ में अधिकरण सप्तम-अष्टम में अतिदेश, नवम में ऊह, दशम में वाद्य, एकादश में तन्त्र तथा द्वादश में प्रसंङ्ग का वर्णन है।

:- **भाष्यकार** :- १. <u>भर्तृमित्र</u> :- (३००-६०० ई.) न्याय रत्नाकर में श्लोक वार्तिक के दशम श्लोक में भर्तृमित्र के भाष्य का वर्णन आता है। यह भाष्य अनुपलब्ध है। भर्तृमित्र ने चार्वाक का खण्डन किया था।[1] इन्होंने तत्त्वशुद्धि वृत्ति लिखी।

२. <u>शबर स्वामी</u> :- मीमांसा दर्शन के प्रमुख प्रस्थापक शबर स्वामी ही है। इन्होंने मीमांसा सूत्र पर भाष्य लिखा था, जो शाबर भाष्य या शबर भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इनका स्थितिकाल २०० ई. मानते हैं। वैसे इनका काल के विषय में डॉ. गंगानाथ का ५७ ई. पू. इन्हें माना है।

मीमांसा के दो सम्प्रदाय :- मीमांसा दर्शन के क्षेत्र में कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र दो उद्भट विद्वान् हुए हैं जिनके सम्प्रदाय या भाट्टमत एवं प्रभाकर सम्प्रदाय (गुरुमत) के रूप में प्रख्यात हुए हैं।

१. <u>भाट्ट मत</u> :- इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट (७०० ई.) हैं कुमारिल आगे चलकर भट्ट, भट्टपाद एवं वार्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य के शास्त्रार्थ की बात प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि मीमांसा के यज्ञादि कर्म सिद्धान्त के समर्थक कुमारिल जब ज्ञान सिद्धान्त के प्रतिपादक शंकराचार्य से परास्त हो गए थे तो वेदान्त सिद्धान्त के अनुयायी हो गए थे जबकि हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि कुमारिल भट्ट का स्थितिकाल शंकराचार्य से दो पीढ़ी पूर्व था। कुमारिल की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इनकी शबर भाष्य पर तीन टीकायें हैं। इनका प्रथम महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ श्लोक वार्तिक हैं, जो शबर भाष्य पर आधारित है। कुमारिल का दूसरा टीका ग्रन्थ तन्त्र वार्तिक है, जो शबर भाष्य के प्रथम अध्याय

---

1. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया।। श्लोक वार्तिक

के द्वितीय पाद से प्रारम्भ होकर तृतीय अध्याय तक की टीका है।

मण्डन मिश्र :- (७०० ई.) मण्डन मिश्र कुमारिल के प्रधान शिष्य थे। मण्डन मिश्र का कर्म एवं ज्ञान के सिद्धान्त को लेकर शंकराचार्य से महान शास्त्रार्थ हुआ था। जब मण्डन मिश्र शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित हो गए थे तब प्रतिज्ञा के अनुसार वे शंकराचार्य के शिष्य हो गए थे एवं उनका अभिधान सन्यास की परम्परा के अनुरूप सुरेश्वराचार्य हो गया था। मण्डन मिश्र रचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमतें विधिविवेक, भावना विवेक, विभ्रमविवेक, मीमांसासूत्रानुक्रमणी, स्फोटसिद्धि एवं ब्रहमसूत्र प्रमुख हैं। मण्डन मिश्र की जन्मभूमि महिष्मती बिहार में थी। ये बिहार के मैथिल ब्राह्मण थे।

पार्थसरथि मिश्र :- (६०० ई.) कुमारिल के अनुयायियों में पार्थसारथि मिश्र प्रमुख है। इन्होंने शास्त्रदीपिका तर्करत्न एवं न्यायरत्नमाला का प्रणयन किया था।

वाचस्पति मिश्र :- इन्होंने मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका की रचना की थी तथा तत्त्वबिन्दु नामक शाब्द बोध परक ग्रन्थ का प्रणयन किया था।

सोमेश्वर भट्ट :- सोमेश्वर भट्ट ने कुमारिल के तन्त्रवार्तिक पर 'न्यायसुधा' टीका का प्रणयन किया है। 'न्यायसुधा' नाम की टीका का दूसरा नाम राणक है।

रामकृष्ण भट्ट :- रामकृष्ण भट्ट ने पार्थसारथि मिश्र रचित शास्त्र दीपिका के तर्कपाद पर 'युक्तिस्नेहपूरिणी' सिद्धान्त चन्द्रिका नाम्नी बृहत्टीका का प्रणयन किया है।

सोमनाथ :- सोमनाथ ने शास्त्र दीपिका के कुछ भाग पर 'मयूखमालिका' नामक टीका का प्रणयन किया था।

गागा भट्ट :- गागा भट्ट ने भाट्ट चिन्तामणि की रचना की। भाट्ट-चिन्तामणि के अन्तर्गत जैमिनीय सूत्रों की टीका की गई है। गागा भट्ट का वास्तविक नाम विश्वेश्वर भट्ट है।

खण्डदेव मिश्र :- (१६००-१६६५) खण्डदेव मिश्र भट्ट मत में नव्य मत के उद्भावक थे। इनका सन्यासावस्था का नाम खण्डदेव था। यह उल्लेखनीय है कि ये पण्डित राजजगन्नाथ के पिता पेरुदेव के गुरु थे। शम्भु भट्ट खण्डेदव के साक्षात् शिष्य थे। खण्डदेव के ३ प्रमुख ग्रन्थ हैं। भाट्ट कौस्तुभ, भाट्ट दीपिका एवं भाट्ट रहस्य।

इनकी भाट्टदीपिका पर तीन टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं- १. शम्भुभट्ट रचित प्रभावशाली २. भास्कर राय रचित भाट्टचन्द्रिका ३. वाग्देश्वर यज्वा कृत भाट्ट चिन्तामणि।

<u>अप्पय दीक्षित</u> :- अप्पय दीक्षित भी खण्डदेव मिश्र के समकालीन थे। इन्होंने चार ग्रन्थों की रचनाकी। १. विधि रसायन २. उपक्रम पराक्रम ३. वादनक्षत्रावलि ४. चित्रकूट।

<u>प्रभाकर सम्प्रदाय या गुरुमत</u> :- प्रभाकर मिश्र द्वारा प्रवर्तित मीमांसा सम्प्रदाय प्रभाकर सम्प्रदाय अथवा गुरुमत के नाम से प्रख्यात है। ये कुमारिल के शिष्य थे। यह तो निश्चित है कि कुमारिल शंकर (७८८-८२० ई.) पूर्व थे। कुमारिल एवं शंकर का शास्त्रार्थ हुआ था। कुछ विद्वान् प्रभाकर को कुमारिल से पूर्ववर्ती मानते हैं। प्रभाकर ने 'शाबर भाष्यं' पर वृहती नामक टीका का प्रणयन किया था। जो पूर्णतया शबरानुसारिणी है। प्रभाकर शबर के अनुसर्ता हैं वहाँ कुमारिल यत्र तत्र शबर के विचारों का प्रत्याख्यान भी करते हैं। प्रभाकर की वृहती ही 'निबन्धन' नाम से जानी जाती है। शबरभाष्य पर प्रभाकर की लघ्वी नामक टीका का उल्लेख मिलता है। लघ्वी का दूसरा नाम विवरण है। गुरुमत के प्रतिष्ठापक मीमांसक आचार्य शालिकनाथ मिश्र (६८०-७५० ई.) है। जिन्होंने ऋजुविमला पंजिका (वृहती व्याख्या) 'दीपशिक्षापञ्जिका' तथा मौलिक प्रकरणग्रन्थ प्रकरण पंजिका का प्रणयन किया था। शालिकनाथ मिश्र प्रभाकर के शिष्यों में से थे।

<u>भवनाथ</u> :- (१००० ई.) भवनाथ नयविवेक के प्रणेता हैं। इसमें 'मीमांसा' के अधिकरणों की व्याख्या वर्तमान है। इनका नाम भवदेव भी है।

<u>पूर्व मीमांसा</u> :- मीमांसा शब्द की उत्पत्ति विचारार्थक मान् धातु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय होने पर होती है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मीमांसा का अर्थ गम्भीर चिन्तन हैं इस तरह पूर्व मीमांसा का अर्थ होगा- किसी विषय पर किया गया प्रथम गम्भीर चिन्तन। वेद के दो स्वरूप प्रचलित है- १. कर्मकाण्ड २. ज्ञानकाण्ड। इसमें पूर्व मीमांसा का अर्थ कर्मकाण्ड तथा उत्तर मीमांसा का अर्थ ज्ञानकाण्ड। वेद का सिद्धान्त वेदान्त है इसलिए यह उत्तर मीमांसा है। पूर्व मीमांसा के अन्तर्गत धर्म-कर्म के प्रतिपादन की मीमांसा।

इसलिए शंकराचार्य ने ज्ञानपक्ष का मण्डन करते हुए आचार पोषक कर्म की महत्ता को निस्सङ्कोच स्वीकार किया है।[1]

पूर्व मीमांसा के अन्तर्गत वेद के पूर्वपक्ष कर्मकाण्ड का विवेचन किया गया है। उत्तर मीमांसा (वेदान्त) से यह पूर्ववर्ती है।

मीमांसक मत में प्रमा कारण प्रमाण कहा जाता है। अज्ञात एवं सत्यरूप पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।[2] स्मृति, भ्रम एवं संशय रूप ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते। जहाँ जिस वस्तु की जैसी स्थिति है उसका वैसा ही ज्ञान प्रमा है। जिस ज्ञान में अज्ञात पूर्व वस्तु का अनुभव हो, तथा जो अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न होकर दोषरहित हो वही प्रमाण है।[3]

<u>वेदों की नित्यता</u> :- वेद नित्य हैं। यह इसलिए कि वेद के स्वरूप शब्द नित्य है। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक है। यदि कोई व्यक्ति प्रथम बार की शब्द की ध्वनि सुनकर शब्दार्थ का ज्ञान नहीं कर पाता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्दार्थ सम्बन्ध का अभाव है। निष्कर्षतः शब्द एवं पदार्थ दोन ों नित्य है। यही कारण है कि लोक अनादि काल से तत्तत् पदार्थों के लिए तत् तत् शब्दों का व्यवहार करता आया है।

प्रभाकर केवल ध्वनि अथवा अनाभिव्यक्त शब्द को स्वीकार नहीं करता जैसा कि स्फोटवादी मानता है। प्रभाकर का मत है कि शब्द उन अक्षरों से भिन्न नहीं हैं, जिनसे यह निष्पन्न है। अक्षरों का श्रवण होता है। और वह अक्षर प्रत्यक्ष का क्रम ही शाब्द बोध का निर्णायक है। वस्तुतः एक शब्द में जितने अक्षर हैं उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान भी हैं। इन प्रत्यक्ष ज्ञानों के अत्यधिक समीप के कारण ही शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान को हम एक मानते हैं। मीमांसक का मत है कि शब्दार्थ बोध श्रवणेन्द्रिय के प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं हैं।

मीमांसा ने वेदों को क्रियापरक माना है। वैदिक कर्मकाण्ड का मूल धर्म ही है। अत एव जैमिनि ने मीमांसा दर्शन के प्रथम सूत्र में धर्म

---

1. कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मनः शम्नुवृत्ति आत्मानिमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धे वेदितुम्। (बृ. उ. शा. भा. 4/4/22)
2. प्रमाचाज्ञात तत्त्वार्थज्ञानम्। मानमेयोदय 1/3 अनन्तशयनग्रन्थ्यावली 1912।
3. कारणदोषबाधक ज्ञानरहितगृहीतग्राहि प्रमाणम्। (शास्त्रदीपिका 1/1/5)

को अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक कहा है।[1] मीमांसक ने वेदों का विषय विभाजन विधि मन्त्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद इन पाँच रूपों में किया है। विधिवाक्य जैसे- जिनमें कर्म की प्रवृत्ति का विधान रहता है। जैसे- स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत (स्वर्ग की कामना करने वालो को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए।) मन्त्र वे हैं जो अनुष्ठान (क्रिया) के अर्थ स्मारक हैं। निषेध वह है जो व्यक्ति को असत् कर्म से विरत करता है। जैसे- ब्राह्मणों न हन्तव्यः।

अर्थवाद किसी पदार्थ के गुणों का प्रशंसन है। अर्थवाद वाक्य भी प्रवृत्ति मूलक ही होते हैं। वेद का प्रधान उद्देश्य क्रियाविधि ही है। शेष मन्त्रादि चार विषय विधि के ही सहयोगी प्रेरक हैं। लौगाक्षिभास्कर ने स्पष्ट किया है कि विधि के चार भेद है- १. उत्पत्ति विधि २. विनियोगविधि ३. अधिकार विधि ४. प्रयोग विधि। उत्पत्ति विधि कर्म के स्वरूप की व्याख्यात्री है। विनियोग विधि अंगीभूत एवं प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध की बोधक है। अधिकार विधि कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व विधि की बोधिका है तथा प्रयोग विधि प्रयोग शीघ्रता की विधि की बोधिका है। मीमांसा दर्शन में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ये ६ प्रमाण स्वीकार किए गए हैं।

उपमान प्रमाण :- पूर्वदृष्ट अर्थ के स्मरण करने पर दृश्यमान पदार्थ में जो सादृश्य ज्ञान होता है उसी को उपमिति कहते हैं। 'उपमिति' का कारण ही 'उपमान' कहा जाता है। जैसे कि किसी ऐसे व्यक्ति को जिसने पूर्व से गाय देखी है जंगल में गवय (नील गाय) भी गाय के समान दिखाई पड़ती है। इसके अनन्तर वह द्रष्टा गाय में रहने वाली गवय (नील गाय) की समानता का स्मरण करता है और कहता है कि मेरी गाय इस गवय के समान है, यही प्रक्रिया उपमिति कहलाती है। इस प्रकार उपमान सादृश्यजन्य ज्ञान है।

अर्थापत्ति :- दूसरे अर्थ के बिना निश्चित अर्थ की अनुपपत्ति को देखकर उसकी (निश्चित अर्थ) संगति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी अन्य प्रमाण के आधार पर देवदत्त का जीवन निश्चित सिद्ध होने पर जब देवदत्त घर में नहीं पाया जाताते उसके बाहर रहने की अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा ही देवदत्त के जीवन की निश्चित सिद्धि होती है। इस तरह देवदत्त के घर से बाहर रहने की कल्पना अर्थापत्ति है।

---

1. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। मीमांसा दर्शन 1,1,1 ।

2. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थो अन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना-आनन्दाश्रम सं. ग्रन्थावली 1946

अनुपलब्धि :- अनुपलब्धि, अभाव का पर्यायवाची है। जहाँ उपर्युक्त पाँचों प्रामाणों की प्रवृत्ति नहीं होती वहीं अनुपलब्धि है। उपर्युक्त पाँचों प्रमाण भावपदार्थो की उपलब्धि के साधन हैं, परन्तु कभी-कभी अभाव पदार्थ की उपलब्धि भी देखी जाती है। अनुपलब्धि प्रमाण अभाव की उपलब्धि का ही बोधक है। हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को ही बतला सकती हैं। अभाव को नहीं। अभाव अनुपलब्धि के द्वारा ही सिद्ध होता है। जैसे यदि पुस्तक होती तो अवश्य मिलती परन्तु इस समय वह अनुपलब्ध है।
मोक्ष :- न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा के प्रपंच सम्बन्ध के विलय का नाम ही मोक्ष है। यह मत भाट्ट मीमांसक का है। प्रभाकर के मत में नियोग सिद्धि ही मोक्ष है। प्रभाकर के मतानुसार किसी बाह्य फल की कामना किए बिना कर्तव्य बुद्धि से नित्य कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इस तरह प्रभाकर भाट्ट मत की तरह प्रपंच सम्बन्ध विलय को मुक्ति नहीं मानते। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तावस्था के सम्बन्ध में स्वयं भाट्टों में दो मत है। एक मत के अनुसार मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।[1] यह मत कुमारिल भट्ट का है। उक्त मत के विपरीत पार्थसारथि के मतानुसार मुक्तावस्था में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है।[2]

गुरुमत में मुक्ति का स्वरूप भट्टो के उक्त दोनों मतों से भिन्न हैं। गुरुमत के अनुसार आत्म ज्ञान पूर्वक दृष्टि से किए गए वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से धर्माधर्म का विनाश हो जाने पर देह तथा इन्द्रियादि सम्बन्ध ा का जो आत्यन्तिक विच्छेद होता है, वही मोक्ष है।

इस विषय का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित है।
वेदान्त दर्शन- वेदान्त दर्शन साक्षात् उपनिषद् सिद्धान्तों का उपबृंहण ही है। इन महर्षियों में वादरि, कार्ष्णाजिन, आत्रेय, औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न

---

1. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
   सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।। मानमेयोदय पृ. 212
2. वेदान्तकल्पलतिका पृ. 4

जैमिनि और काश्यप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि इन महर्षियों की दार्शनिक कृतियाँ अनुपलब्ध है। परन्तु फिर भी यत्र तत्र उपलब्ध संकेतों के आचार पर इनके मतों का गवेषण सम्भव है।

बादरि :- आचार्य बादरि का उल्लेख चार बार बादरायण के ब्रह्मसूत्र[1] तथा चार बार जैमिनि के मीमांसा सूत्र[2] के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आचार्य बादरि उपलब्ध होता है। आचार्य बादरि के दार्शनिक सिद्धान्तों की जो रूपरेखा उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार हैं-

१. आचार्य बादरि वैदिक कर्म में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति का अधिकार स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त आचार्य की अद्वैतपरक बुद्धि का ही परिचायक है।

२. उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापी ईश्वर का प्रादेशमात्र रूप से वर्णन मिलता है। बादरि का विचार है कि मन प्रादेश मात्र हृदय में रहने के कारण शास्त्रों में प्रादेशमात्र कहा जाता है।

३. छान्दोग्योपनिषद् में ही मुक्त पुरुष के वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि संकल्प देवस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति अर्थात् मुक्त पुरुष के संकल्प से ही पितृगण उठ जाते हैं। यहाँ पर शंका होती है कि ईश्वर भावापन्न पुरुष के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता रहती है अथवा नहीं। आचार्य वादरि का विचार है कि ईश्वर भावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता रहती है अथवा नहीं। आचार्य बादरि का विचार है कि ईश्वर भावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता नहीं रहती है इसीलिए तो छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है-मनसा एतान् कामान् पश्यन्।

इस तरह स्पष्ट है कि बादरि आचार्य वेदान्त के समर्थक थे।

जैमिनि:- आचार्य जैमिनि मीमांसा सूत्र के लेखक के नाम से विख्यात हैं। ब्रह्मसूत्र में इनकी चर्चा ११ बार हुई है। जैमिनि बादरायण के शिष्य थे। इन्होंने वेदव्यास से सामवेद और महाभारत की शिक्षा प्राप्त की थी। मीमांसा दर्शन के अलावा जैमिनि ने भारत संहिता (जैमिनि भारत) की भी रचना की थी।

---

1. ब्रह्मसूत्र 1/2/30, 3/1/1/11, 4/3/7, 4/4/10
2. छान्दो. 8/2/1
3. छान्दो. उप. 8/2/15
4. ब्रह्मसूत्र- 1/2/28, 1/2/31, 1/3/31, 1/4/18, 3/2/40, 3/4/2, 3/4/18, 3/4/40, 4/3/12, 4/4/5, 4/4/11

ऐसा भी कहा जाता है कि जैमिनि ने द्रोणपुत्रों से मार्कण्डेय पुराण सुना था। इनके पौत्र सुमन्तु और पौत्र सत्वान थे। इन तीनों ने मिलकर एक एक संहिता बनाई है।

काशकृत्स्न :- ब्रह्मसूत्र में आचार्य 'काशकृत्स्न' की चर्चा केवल एक बार हुई है। इसके अतिरिक्त पंतजलि के महाभाष्य में काशकृत्स्न की चर्चा भी की गई है। काशकृत्स्न व्याकरण शास्त्र के भी प्रवक्ता है, जिसका सम्बन्ध का तन्त्र व्याकरण से भी कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है। यह कर्म परक भी है ज्ञानपरक भी। आचार्य काशकृत्स्न का विचार है कि छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही जीव लोक में अवस्थित है। ये आचार्य जीव को अविद्या कल्पित मानते हैं। अविद्या कल्पित भेद से ब्रह्म ही जीव रूप से स्थित है।[1]

उक्त दोनों आचार्यो की तरह औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय आश्मरथ्य, काश्यप आदि का भी संकेत वेदान्त दर्शन के रूप में मिलता है।

गौडपादाचार्य का दर्शन अद्वैत तत्त्व :- प्राचीन अद्वैतवाद का पूर्णतया विकसित स्वरूप गौडपादाचार्य के दर्शन में ही उपलब्ध होता है। गौडपादाचार्य का प्रमुख दर्शन ग्रन्थ गौडपादकारिका है। गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रभाव उनके प्रशिष्य शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद पर पूर्णतया पड़ा है।

उपनिषद् दर्शन के अनुसार गौडपादाचार्य विश्व, तैजस् एवं प्राज्ञ को आत्म के विभिन्न रूपों में स्वीकार न करके एक ही स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त तीन स्वरूप एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं।[2] यही आत्मा अद्वैत ज्ञान स्वरूप एवं सर्व व्यापक है। अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि अनादि माया के कारण अज्ञान की निद्रा में सुप्त जीव अज्ञान निवृत्ति होने पर जब प्रवुद्ध होता है तभी

---

1. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ब्रह्मसूत्र- 1/4/22
2. एक एक् त्रिधा स्मृतः गौ. का. 1/1
3. अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः गौ. का. 1/10

अज अनिद्र अस्वप्न एवं अद्वैत तत्त्व का बोध होता है।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।।[1]

इस तरह शांकर वेदान्त की तरह आचार्य गौडपाद की दृष्टि से द्वैत जगत् की सत्ता मायिक ही है। माया अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होने से तत्त्व ज्ञान होने पर प्रपंचमय द्वैत जगत की भी निवृत्ति हो जाती है।[2] परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म को अद्वैत तत्त्व के रूप में स्वीकार करके ब्रह्म तत्त्व का विस्तार से विवेचन किया गया है। गौडपादाचार्य ने प्रणव अर्थात् ओंकार को ब्रह्मरूप ही माना है।[3] प्रणव रूप ब्रह्म में समाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिए किसी तरह का भय नहीं रहता। प्रणव ही अपर, पर, अपूर्व, अनन्तर, अवाह्य, अन पर तथा अव्यय रूप है। प्रणव ही सर्वप्रपंच का आदि मध्य तथा अन्त है।[4]

ब्रह्म :- जो ब्रह्म जिज्ञासु का ज्ञेय है उसे गौडपादाचार्य ने अज तथा नित्य कहा है 'ब्रह्म ज्ञेयमजं नित्यम्'[5]। यही शान्त अद्वय रूप तत्त्व है तथा प्रत्येक स्थिति में समान है।[6] ब्रह्म स्वभाव से स्वस्थ शान्त[7] तथा विशुद्ध रूप है।[8] गौडपाद ने ब्रह्म को अनिद्र, अस्वप्न, नाम रूप से रहित सकृद् विभात तथा सर्वज्ञ कहा है।[9] ब्रह्म दर्शन के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश रूप है।[10] ब्रह्म अनुत्तम सुख व निर्वाण रूप है।[11] एक कारिका के अन्तर्गत कहा गया है कि परमार्थ दृष्टि से न किसी का प्रलय है, न किसी की उत्पत्ति, न कोई बद्ध है तथा न कोई साधक। इस तरह तो मुमुक्ष एवं मुक्त का भेद भी मिथ्या ही है।[12]

---

1. गौडपाद कारिका 1/16
2. ज्ञाने द्वैतनं विद्यते गौ. का. 1/18।
3. प्रणवो ब्रह्मनिर्भयम् गौ. का. 1/25
4. गौड पादकारिका 1/25, 26।
5. गौ. का. 3/33।
6. समतां गतम् वहीं 3/2/38।
7. स्वस्थं शान्तम् वहीं 3/47।
8. वहीं 4/93।
9. वहीं 3/35
10. वहीं 4/81
11. वहीं 3/47।
12. वहीं 2/32

<u>जगन्मिथ्यात्व</u> :- आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका के वैतथ्य व अलातशान्ति प्रकरण के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्न सिद्धान्त के आधार पर किया है। उन्होंने स्वप्नगत विषयों के मिथ्यात्व के विषय में कहा है कि स्वप्न काल के समस्त बाहय एवं आध्यात्मिक भाव मिथ्या होते हैं।[1] क्योंकि स्वप्नावस्था के पश्चात् जाग्रत अवस्था में स्वप्नगत भावों की सत्यता नहीं देखी जाती। स्वप्न में गज या पर्वत देखने वाले व्यक्ति के लिए जाग्रत अवस्था में गज या पर्वत की सत्ता नहीं रहती। अतः स्वप्नगत भाव मिथ्या ही हैं। गौडपाद ने कहा है कि स्वप्न में जो व्यक्ति अपने मित्रों से आलाप करता है वह जाग्रत दशा में नहीं करता।[2] इसी तरह स्वप्नगत रथादि की सत्ता भी मिथ्या ही है।[3]

जिस तरह स्वप्नकालिक अवस्थाओं के पदार्थों की सत्ता असत्य या मिथ्या है उसी तरह जाग्रत अवस्था के पदार्थों की सत्ता व्यवहारतः नहीं। बीज का कभी अभाव नहीं होता न ही मिट्टी से घट बन जाने पर मिट्टी कारण का नाश होता है। अतः जगत् का कारण सत् है और वह सर्वथा सत्य है। इसी तरह न भावोऽनुपलब्धेः के द्वारा विज्ञानवादी बौद्ध का मत खण्डन वेदान्तियों ने किया है। पूर्व उपलब्ध वस्तु के संस्कार बुद्धि में बने रहते हैं वे वासना के तौर पर स्फुरित होते रहते हैं। पदार्थों की सत्ता स्वीकार न करने से उसकी उपलब्धि नहीं होगी। ब्रह्मसूत्र में सर्वथाऽनुपत्तेश्च मत से बौद्ध मत की अनुपयोगिता व अनुपपत्ति की घोषणा की गई है।

<u>माया या अविद्या</u> -: माया सिद्धान्त का उद्भव ऋग्वेद संहिता एवं उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों का यह मूलभूत सिद्धान्त है। माया या अविद्या को समझे बिना 'वेदान्त रहस्य' को कोई नहीं समझ सकता। वैसे जिस तरह से प्रस्फुट रूप में मायावाद का सिद्धान्त वेदान्त में विकसित हुआ वैसा न वेद में तथा न ही उपनिषदों में परिलक्षित होता है।

---

1. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्नमाहुर्मनीषिणः वही 2/1 ।
2. मित्राद्यैः सह सम्मन्त्रय सम्बुद्धो न प्रपद्यते 4/35 ।
3. वहीं 2/3 ।

ऋग्वेद में 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[1] के द्वारा इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ इसमें अविद्या अर्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः संक्षेप में अधिक उदाहरण न देकर यहीं कहा जा सकता है कि भले ही वेद एवं उपनिषद् वेदान्त में प्रमाण भूत हो किन्तु माया का वेदान्तीय रूप तथा अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त वहाँ उपलब्ध नहीं होता। प्रश्नोपनिषद् में आचार की कुटिलता के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु जगत् के मिथ्यात्व अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ।

शंकराचार्य ने जगत और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का हेतु अविद्या को बतलाया है। उन्होंने अनेक तरह की तृष्णाओं एवं जन्म धारण आदि दुःखों का कारण अविद्या[2] माना है। अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य आत्म स्वरूप का बोध न होने पर नामरूपात्मक जगत् ही परमार्थतः सत्य भासित होता है। अविद्या को जगत् की उत्पन्न कर्त्री बीज शक्ति का रूप दिया है।[3] यह बीज शक्ति परमात्मा की शक्ति है। इसका विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है। दोनों अवस्थाओं का मिथ्यात्व एक ही है। गौडपादाचार्य से शंकराचार्य के मत में भिन्नता है। शंकर दोनों अवस्थाओं के पदार्थों में भेद मानते है। ब्रह्मसूत्र के द्वितीय पाद में जैसा कि सूत्र हैं-

'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'

शंकराचार्य का अभिप्राय यही है कि जाग्रतवस्था एवं स्वप्नावस्था के पदार्थों में साधर्म्य नहीं है। जाग्रत अवस्था के पदार्थ उपलब्ध देखे जाते हैं अतः उनका मिथ्यात्व कहना ठीक नहीं है। यह बौद्धविज्ञानवादियों का खण्डन है।

---

1. ऋग्वेद सं. 6/47/18
2. कठ. उप. भा. 2/5
3. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः ब्र. सू. शांकरभाष्य 1/4/3.
4. तस्या बीजशक्तेर्दाहात् ब्र. सू. शांकरभाष्य 1/4/3

ब्रह्म सूत्र में बौद्धों के मत का खण्डन- बौद्ध मत क्षणिकवाद वेदान्तीय आत्मवाद का घोर-विरोधी है। बौद्ध पदार्थों की सत्ता नहीं मानते। भ्रान्तिरूप अविद्या के कारण ही पदार्थ स्थिर प्रतीत होते है ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव होने से सबका अभाव हो जाता है। इस तरह निरोध की स्थिति आ जाती है। 'उभयथा च दोषात्'[1] इस सूत्र से दोनों तरह से होता है। इसी के साथ 'अनुस्मृतेश्च' (ब्र.सू. २/२/२५) सूत्र द्वारा बौद्धमत आत्मा की अनित्यता का खण्डन किया गया। सभी मनुष्यों को पूर्व अनुभवों का बार-बार स्मरण होता है। अनुस्मृति आत्मा की नित्यता मानने पर ही सम्भव है। पूर्व क्षणों की स्मृति रहती है। अतः प्रतिक्षण स्मृति परिवर्तित नहीं होती। अतः आत्म नित्य है। यह वेदान्तियों की मान्यता हैं।

अभाव से भाव की उत्पत्ति होती हैं अर्थात् कारण के नष्ट हो जाने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। बीज नष्ट हो जाने पर ही उससे अंकुर उत्पन्न होता है इस बौद्ध मत का खण्डन 'नासतोऽदृष्टवात्' इस ब्रह्मसूत्र से हो जाता है। खपुष्प 'वन्ध्यापुत्र' आदि शब्दों का व्यवहार केवल वाणी से ही होता है। शंकराचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया कहा है। शंकराचार्य ने अपने शांकरभाष्य में माया के विषय में कहा है-

'अहो अतिगम्भीरा दुखगाहया विचित्राचेयं माया यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति, न गृहणाति, अनात्मानं देहेन्द्रियादि संघातमात्मनो दृश्यमानमपि। घटादिवदात्मत्वेनाहमनुष्य पुत्र इत्यनुच्चमानोऽपि गृहणाति।[2]

इसके अनुसार माया अतिगम्भीर, दुखगाहय है। प्रत्येक जीव परमात्मा रूप है। 'मैं परमात्मा हूँ' ऐसा जीव नहीं समझता बल्कि देहेन्द्रियादि रूप अनात्म तत्त्व को ही ग्रहण करता है। वास्तविक परमार्थ सत्य अद्वैत ब्रह्म मात्र है और जगत् माया है परन्तु जगत् मायिक होने पर भी शशश्रृंग के समान पूर्णतया असत् नहीं हैं। आचार्य शंकर ने अविद्या को

---

1. ब्रह्म सूत्र 2/2/29
2. कठो. शांकर भाष्य 1/3/12
3. ब्रह्म सूत्र 2/2/23

नामरूपात्मक जगत् को ब्रह्म में आधारित माना है। अविद्या प्रपंचजन्य समस्त अनर्थों का बीज है।[1] अविद्या या अज्ञान के कारण ही जीव को नाम एवं रूप की सत्यता की भ्रान्ति होती है। शंकर ने माया एवं अविद्या को पर्याय माना है। परवर्ती वेदान्त आचार्यों ने दोनों के स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतिपादित किए।

प्रकाशात्ममति ने व्यवहार भेद से माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद प्रतिपादित किया है। विक्षेप प्राधान्य से जो माया है वहीं आवरण की प्रधानता से अविद्या है। इस तरह विवरणकार ने आवरण शक्ति सम्पन्न को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति सम्पन्न को माया कहा है।

पंचदशी के अन्तर्गत विद्यारण्य ने माया एवं अविद्या का जो भेद दिखाया है उसके अनुसार सत्त्व की शुद्धि से माया और सत्त्व की अशुद्धि से अविद्या की उत्पत्ति होती है। इस तरह पंचदशी के अनुसार विशुद्ध सत्त्व प्रधान प्रकृति को माया तथा मलिन सत्त्व प्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं। सत्त्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। (पंचदशी १/१६)।

<u>अद्वैत चन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत</u> :- अद्वैतचन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य ने परमेश्वर की शक्ति माया के दो भेद किए हैं। एक विशुद्ध सत्त्व प्रधान तथा दूसरी अविशुद्धसत्त्वप्रधान माया। विशुद्धसत्त्वप्रधान माया सत्त्वगुण है तथा अविशुद्धिसत्त्व प्रधाना माया तमो गुण प्रधान है। पहली माया परमेश्वर की दासी है एवं दूसरी जीव की स्वामिनी है।[3] यही अविशुद्धिसत्त्वप्रधाना माया अविद्या का रूप है।

माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ- सदानन्द ने वेदान्त के अन्तर्गत माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों की चर्चा की है।[4] माया की आवरण शक्ति जीव पर अज्ञान का आवरण डाल देती है जिसका फल यह होता है कि जीव अपने स्वरूप परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का ज्ञान नहीं कर पाता। माया की दूसरी शक्ति विक्षेप शक्ति है।

---

1. सा चाविद्या एव सर्वस्मानर्थस्य प्रसवबीजम् वही 3/5/1 ।
2. एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्रधान्येन माया आच्छादन प्राधान्येन विद्येति व्यवहार भेदः पंचपादिका। विवरण पृ.38।
3. अद्वैतचन्द्रिका पृ. 41 ।
4. वेदान्तसार पृ. 4

विक्षेप शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर्त्री है।[1] शंकराचार्य के उत्तरकाल में माया का व्यवहार दृष्टि से विर्षायमूलक अविद्या एवं विषय मूलक माया के रूप में जो भेद मिलता है। वह माया की उपर्युक्त आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के समान ही है। जिस तरह कि विषयमूलक अविद्या जीव को वस्तु ज्ञान से वंचित करती है, उसी तरह आवरण शक्ति भी जीव के स्वरूप ज्ञान में बाधक है। विषय मूलक माया जगत् की बीज शक्ति है उसी तरह विक्षेप शक्ति भी ज़गत् की निर्मात्री है।[2]

इस तरह शांकर वेदान्त समस्त माया, अनादि, भावरूप, अनिर्वचनीय एवं सान्त है।[3]

अध्यारोपण एवं अपवाद :- अद्वैत वेदान्त की अनुपम योजना है अध्यारोप व अपवाद की। ब्रह्म वेत्ता गुरु के लिए जिज्ञासु शिष्य को जगत् के मिथ्यात्व एवं परमात्मा की सत्यता का उपदेश देने के लिए अध्यारोपवाद व अपवाद सिद्धान्त की योजना की गई। अध्यारोप ज्ञान के बिना गुरु द्वारा उपदेश देना असम्भव है। अध्यारोप का अर्थ है- किसी वस्तु का आरोप तथा अपवाद का अर्थ है- आरोपित वस्तु का निराकरण। ब्रह्म में जगत के विषयों का आरोप अध्यारोप है तथा जगत् के समस्त विषयों का निराकरण अपवाद है। सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है- "असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः।[3] किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहा जाता है। आत्मा में अनात्म शरीर का आरोप अध्यारोप होता है। आत्मा को अपवाद पद्धति के द्वारा शरीर के अन्यमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय कोशों से अतिरिक्त सिद्ध किया जाता है।

अध्यास :- अध्यास, अविद्या का ही दूसरा नाम है। 'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः अध्यासः[4]' जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु में उस अवर्तमान वस्तु की सत्ता स्वीकार करना अध्यास है शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प और नाम रूप से रहित आत्मा में प्रपंच रूप जगत् की सत्यता का भान होना अध्यास ही है।

---

1. संक्षेप शारीरक 1/20।
2. विक्षेपशक्तिलिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्। वेदान्तसार 10 ।
3. वेदान्तसार 6 ।
4. ब्र. सू. शा. भा. 2/1/4

अध्यास का मूल जीव का अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत, रस्सी में सर्प आत्मा में अनेकत्वमय जगत् की सत्ता का अनुभव होता है। अध्यास ही द्वैतबुद्धि का जनक है। उदाहरणार्थ- पुत्र एवं प्रिया आदि के अपूर्ण तथा पूर्ण होने पर "मैं ही अपूर्ण तथा पूर्ण हूँ" इस तरह का अनुभव अध्यास के कारण ही होता है। इसी तरह आत्मा में उत्पन्न देहाध्यास के कारण पुरुष को अपने स्थूलत्व, कृशत्व, गौरवत्व आदि का अनुभव होता है।[1]

<u>अहं ब्रह्मास्मि</u> :- "मैं ही नित्य शुद्धबुद्ध स्वरूप ब्रह्म हूँ" इस तरह का बोध 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव है। चित्त वृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती वरन् वह अज्ञान विशिष्ट प्रत्यग्भिन्न विषयिणी होती है। जब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह प्रत्यक् चैतन्य गत अज्ञानावरण को दूर कर देती है। इस तरह अज्ञानावरण को दूर करना ही 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति के उदय का परिचायक है। प्रत्यक् पर बह्म विषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही तत्त्व जिज्ञासु को यह अनुभव होने लगता है, मै ही नित्य शुद्धबुद्ध स्वरूप ब्रह्म हूँ। उक्त तत्त्वसम्पन्न तत्त्व वेत्ता को ब्रह्म के अतिरिक्त किसी सत्ता की भ्रान्ति नहीं होती। अज्ञान की निवृत्ति होने पर कार्य प्रपंच एवं अखण्डाकाराकारित वृत्ति का भी नाश हो जाएगा। जिस तरह दर्पण के नष्ट हो जाने पर विम्ब मात्र (मुख) शेष रह जाता है उसी प्रकार वृत्ति के लीन हो जाने पर उस चैतन्य प्रतिबिम्ब के विम्ब प्रत्यग भिन्न पर ब्रह्म मात्र की ही सत्ता रह जाती है।[2]

<u>तत्त्वमसि द्वारा ब्रह्म बोध</u>- उपनिषदों में प्रज्ञानं ब्रह्म[3], अहं ब्रह्मास्मि[4], अयात्मा ब्रह्म[5], तत्त्वमसि[6] इन चार महावाक्यों का उल्लेख है। यह सामवेद शाखा के

---

1. तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्य धर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं तिष्ठामि गच्छामिलंघयामि। ब्र. स. शा. भा. उपोद्घात।
2. वेदान्तसार पृ. 77 ।
3. ऐतरेयोपनिषद् 5-1 ।
4. वृह. उप. 1/4/10 ।
5. वृह. 2/5/19 ।
6.

छान्दोग्योपनिषत् के महावाक्य 'तत्त्वमसि' द्वारा होने वाले अखण्डार्थबोध की मीमांसा करता है। छान्दोग्योपनिषत् में तत्त्वमसि का उपदेश उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु के प्रति किया है। तत्त्वमसि आदि महाकाव्यों के द्वारा अखण्डार्थ ब्रह्म का साक्षात्कार तभी हो सकता है जबकि जिज्ञासु का चित्त शुद्ध संस्कृत एवं ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए दृढ़ है।

'तत्त्वमसि' में तत् पद का वाच्यार्थ अज्ञान एवं कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीर की समष्टि तदुपहित चैतन्य एतदनुपहित चैतन्य (तुरीय चैतन्य) इन सबका तप्त लोह पिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना है। तत् शब्द का लक्ष्यार्थ-अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर चैतन्य का आधार भूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर चैतन्य से विविक्त होकर भिन्न-भिन्न रूप से अवभासित होता है।

'त्वम्' पद का वाच्यार्थ= अज्ञान तथा कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ तैजस तथा विश्व चैतन्य और तदनुपहित चैतन्य इन तीनों का तप्त लौह-पिण्ड के समान अभेद विवक्षा में एक रूप से अवभासित होना है। इसका लक्ष्यार्थ व्यष्टिभूत अज्ञानादि तदुपहित जीव चैतन्य एवं इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मक तुरीय चैतन्य इन सबका भेद विवक्षा में पृथक्-पृथक् प्रतीत होना है।

वाच्यार्थ मात्र के आश्रय से इस महावाक्य द्वारा अखण्डार्थ बोध असम्भव है। लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने पर अर्थात् सृष्टि से पहले नामरूप रहित जो सद् एवं अद्वैत वस्तु बतलाई गई है। सृष्टि निर्माण के बाद वह सद् वस्तु अब भी वैसी ही अविरत है, यही तत् शब्द का लक्ष्यार्थ है। त्वम् पद लक्षणा द्वारा श्रवणादि का अनुष्ठान करने वाले तथा महावाक्य के जिज्ञासु श्रोता के देहेन्द्रियातीत एवं तीन देहों के साक्षी पदार्थ के बोधक है।

वेदान्त मत का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में निहित है।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

(१) चार्वाक दर्शन में मोक्ष दृष्टि :-

नास्तिक=अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह दर्शन स्वभाववादी, जड़वादी तथा भौतिकवादी प्रवृत्तियों पर आधारित वेद विहित सत्यों के विपरीत आचरण करने वाला दर्शन है। इसका प्राचीन नाम लोकायत है।[1] इसे स्वभाववाद तथा बार्हस्पत्य भी कहा जाता है।[2]

इसके प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं। चार्वाक मत जड़वादी है। जिसने तर्क-वितर्क से वितण्डावाद का सहारा लेकर वैदिक मतों का खण्डन किया है।

सामान्यतः यह दर्शन भौतिकवादी है, यह केवल प्रत्यक्षजन्य विषयों की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। जो इन्द्रियगोचर है वही सत्य है। भौतिक एवं दृश्य जगत् ही यथार्थ है। अपना सुख ही सबसे अधिक स्पृहणीय आदर्श है। प्रत्यक्ष को एकमात्र आधार मानते हुए चार्वाक दर्शन में अलौकिक पारमार्थिक जीवन को काल्पनिक जीवन की संज्ञा दी गई। जो कुछ है, वही इस जीवन काल में है। मृत्यु के उपरान्त जीवन का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई स्वतन्त्र आत्मा है तो इसका कोई अलौकिक लक्ष्य ही है। काम तथा अर्थ के अलावा अन्य पुरुषार्थ व्यर्थ हैं।[3] इस मत के अनुसार जीवन का एक मात्र प्रयोजन है- *'खाओ, पिओ और मौज करो।'* अतः लौकिक सुख के अलावा कोई भी अलौकिक सुख नहीं है।

---

1. भारतीय दर्शन, बल्देव उपाध्याय, पृ. 75
2. ए.जी.के. वारियर = दि कन्सेप्ट ऑफ मुक्ति इन अद्वैत वेदान्त
3. सर्वदर्शन संग्रह-अभयंकर पूना, यूनीवर्सिटी ऑफ मद्रास 1961, पृ. 7

आत्मा, जल, वायु और अग्नि से चेतना उत्पन्न होती है। जो मृत्यु काल में समाप्त हो जाती है। ईश्वर और अमर आत्मा के अभाव में कोई आध्यात्मिक आदर्श सम्भव नहीं है। अतः चार्वाक मत के अनुसार स्वार्थमय इन्द्रिय सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है।

चार्वाक दर्शन का मूल प्रतिपाद्य यह है कि शरीर के अलावा अन्य तत्त्व आत्मा का कोई अस्तित्त्व नहीं है। यह शरीर ही आत्मा है। अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वृहस्पति सूत्र के मतानुसार यह शरीर ही आत्मा है, चेतना इसी का गुण है। चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः। इसे चार्वाक दर्शन का भूत चैतन्यवाद कहा गया है।

चार्वाक दर्शन स्थूल पदार्थ जैसे यह 'मैं' हूँ को स्पष्ट जानने के कारण शरीर को आत्मा कहता है। जिस तरह पान, कत्था, चूना, सुपाड़ी अलग-अलग रहने पर लाल रंग उत्पन्न नहीं करते किन्तु यदि इनमें संयोग होता है तो लाल रंग उत्पन्न हो जाता है उसी तरह भूत शरीरी के द्वारा चैतन्य की उत्पत्ति होती है। इस तरह अनुभव या भूत द्रव्य ही चेतना का आधार है।

जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यस्तु दृश्यते।

ताम्बूलपूराचूर्णानां योगाद् राग इव स्थितम्।।

चार्वाक मत में जगत् की सत्ता इनके मत में किसी भी परमार्थ सत्ता से नियन्त्रित नहीं मानी जा सकती। चार्वाक चूँकि प्रत्यक्ष को आधार बनाता है तभी ईश्वर सत्ता में उसे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण हाथ नहीं लगता। इसलिए कार्यकारण नियम का परिहार भी करता है।

वह सुख दुःख का कारण धर्म अधर्म को नहीं मानता। सर्वदर्शन संग्रहकार ने लोकायत दर्शन को स्वभाववादी दर्शन माना है।

इस तरह से चार्वाक दर्शन में मोक्ष की स्थिति क्या हो सकती है। उनके मत में मोक्ष की कल्पना दुःखनिवृत्ति के रूप में की जासकती है। दुःख से छुटकारा ही मोक्ष है। यह शरीर ही दुःख का कारण है तथा दुःख का भोक्ता है। अतः मृत्यु अवधि में दुःख की निवृत्ति हो जाती है। फलतः मृत्यु के बाद अन्य जीवन की कल्पना करना निरर्थक है। मरणमेवापवर्गः- चार्वाकमतानुसार एक मात्र यही सत्य है। यदि मोक्ष की अवधारणा पर विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि मोक्ष का अभिप्राय है कि अपने स्वरूप अर्थात् आत्मा में स्थित होगा। मृत्यु के उपरान्त आत्मा का अभाव हो जाता है। तब कौन अपने स्वरूप में अवस्थित रहेगा। अतः चार्वाक, देहपात के बाद किसी नित्य सत्ता को मानने के पक्ष में नहीं है। यदि चार्वाक मत पर गम्भीरता से विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि उनका सिद्धान्त मात्र बाह्यस्वरूप को देखकर संसार को भोग-विलास का स्थल मानता है। इन्द्रिय सुख से परे अन्य कोई आनन्द हो सकता है, यह चार्वाक की समझ में आने लायक नहीं है।

यदि यह विचार किया जाए कि शरीर व चैतन्य की क्रिया केवल भूत तत्त्वों के मेल से होती है तो प्रश्न उठता है कि शरीर की उत्पत्ति के पूर्व चेतना कहाँ थी? क्या बिना किसी चेतन सत्ता के भूत तत्त्वों का संयोग सम्भव हैं? क्या स्त्री पुरुष संयोग से ही ईश्वर उत्पन्न होता है? यदि ऐसा सम्भव होता तो इच्छानुसार जन्म धारण के कुल का विधान होता? अद्वैत ब्रह्म सिद्धि का मत है कि बिना किसी अदृष्ट सत्ता के जीवों की सत्ता का मानना असम्भव है? इसी के साथ आत्मा को मृत्युकाल में नष्ट होना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि नष्ट तो वह होता है, जो उत्पन्न होता है।

आत्मा तो उत्पन्न होती नहीं, इसलिए उसके नष्ट होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता । एक बार आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाने पर उसके परम आदर्श मोक्षावस्था की पुष्टि भी हो जाती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है कि- चार्वाकों ने ऐहिक सुखमय जीवन के साधन भूत कला कौशल की सृष्टि की और लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। आचार्य वृहस्पति ने अर्थशास्त्र लिखकर मनुष्य मात्र के लिए उच्छृंखलता का त्याग नियमपूर्वक जीवन बिताने की पद्धति पर आग्रह दिखाया। समाज का नियमानुकूल चलना संसार के कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है। चार्वाक लोग, इसी कारण मनुष्यों के निग्रह तथा अनुग्रह, दण्ड तथा दया करने वाले राजा को ही ईश्वर मानते थे। निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः। अतः आधि भौतिक सुखवाद के पुजारी होने पर भी चार्वाकों ने मानव जीवन को विच्छृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख की मृगतृष्णा में अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गवाने वाले अधिकांश लोगों के सामने इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया।

अतः यह स्पष्ट है कि चार्वाक प्रधान विषय मानव जीवन के बाह्य स्वरूप की मीमांसा तथा उसे सुखमय बनाने की व्यवस्था देना है।

(२) बौद्ध दर्शन व उनकी निर्वाण दृष्टि :-

बौद्ध दर्शन भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विश्वव्यापी एवं अत्यन्त प्रभावशाली दर्शन है। वैसे इसे कुछ दार्शनिकों ने षड्दर्शन से पृथक् परिगणित करके इसे नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत रखकर कुछ इसका अपमान सा ही किया है। किन्तु दार्शनिकों व ऐतहासिकों के इस घोर पक्षपात से बौद्ध दर्शन की बढ़ती हुई प्रभावशालिता को कोई रोक नहीं सका। भारत में बुद्ध का जन्म हुआ। बुद्धवचनों के व्याख्याकार भारतीय ब्राह्मण व अन्य वर्ग के विद्वान् हुए। ऐसी स्थिति में इसे भारतीय षड्दर्शनों की धारा के ही साथ समझना चाहिए। इसके सिद्धान्तों के वैदिक विरोधी होने से इसे अश्रद्धेय नहीं समझा जा सकता।

बौद्धदर्शन में मोक्ष को निर्वाण की संज्ञा से अभिहित किया गया है। बौद्ध दर्शन का अभ्युदय भारत में ब्राह्मणों के कर्मकाण्डमय धर्म के विरुद्ध उपनिषदों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आध्यात्मिक क्रान्ति के रूप में हुआ था। बुद्ध ने जीवन को दुःखों से भरा हुआ समझा और दुःखमय जीवन की असारता को स्वीकारते हुए उन्होंने इसकी परिणति 'निर्वाण' की अवस्था में माना था।

बौद्ध दर्शन का सार तत्त्व चार आर्य सत्यों में निहित है। ये चार आर्यसत्य हैं- १. दुखम् २. दुःख समुदयः ३. दुःखनिरोधः ४. दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपत्। आर्य अर्थात् सुधीजन ही इन सत्यों का अनुभव करते हैं, इसलिए ये आर्यसत्य कहे जाते हैं।

इन आर्य सत्यों का विचार विमर्श भी अपेक्षित है। १. दुःखम् अर्थात् मानव जीवन दुःख से परिपूर्ण है। इस दुःख से मानव मात्र वंचित नहीं रह सकता। दुःखों का कारण मानव-जीवन धारण करना ही है। इसके १२ कारण बौद्ध दर्शन में परिगणित है- यथा- जरा, मरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार और अविद्या।

इनमें जरामरण का कारण जाति=जन्म है। जाति का कारण भव है। भव का कारण उपादान=आसक्ति है। यह आसक्ति तृष्णा अथवा इच्छा के कारण उत्पन्न होती है। इच्छा का कारण वेदना और वेदना का उदय इन्द्रिय संस्पर्श है। यह इन्द्रिय स्पर्श षडायतन मन को लेकर सभी ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित है। षडायतन नामरूप धारी शरीर से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति विज्ञान संस्कार से होती है।

इस तरह बौद्ध दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति अविद्या या अज्ञान को ही दुःख रूपी बन्धन का कारण मानता है। दुःखनिरोध तृतीय आर्यसत्य है। यही निर्वाण के विचार को प्रतिपादित करता है। यदि दुःख का निरोध हो जाएं तो वास्तविकता का बोध स्वतः हो जाता है। चतुर्थ आर्य सत्य के रूप में दुःखों से निवृत्ति होने के विभिन्न उपायों को बतलाया गया है। इसे 'अष्टाङ्ग मार्ग' कहा जाता है जो क्रमशः सम्यग् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यग् आजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि कहे जाते हैं। इन तीन मार्गों के आचरण करने से ही निर्वाण की उपलब्धि होती है।

निर्वाण के स्वरूप के विषय में बौद्ध दर्शन में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। वैसे यह स्थिति बौद्ध दर्शन की नहीं है। अन्य दर्शनों में भी मत मतान्तर उपलब्ध होते हैं।

विनयपिटक में प्राप्त विवरण से ज्ञात है कि गौतम बुद्ध के उपदेश के रूप में निर्वाण के अधिकारी की चर्चा मिलती है। बुद्ध ने कहा है कि हे भिक्षुओं, सब मानवों के लिए पावन जीवन चर्या का प्रचार करने, जिसमें सभी का सुख है, जिसमें सभी के लिए जीवन का लक्ष्य निहित है। किन्तु जहाँ समस्त मनुष्य मात्र के लिए सुख की चर्चा की गई है वहीं केवल भिक्षुओं को ही निर्वाण का अधिकारी कहा गया है। गृहस्थ जीवन की आसक्ति इस मार्ग में बाधक हैं।[1] इसी के साथ उपासक-उपासिकाओं के लिए यह मार्ग अनुगमनीय कहा गया है।[2] अतः जो विवेकशील व्यक्ति आसक्तियों से ऊपर उठ गया है, वह भी निर्वाण का अधिकारी है। इस तरह स्पष्ट होता है कि बौद्ध दर्शन का क्रमिक विकास हुआ है। इस विकास क्रम में ही यह दर्शन मुनष्य के तुलनात्मक पूर्ण स्वरूप की व्याख्या करता है। निर्वाण प्राप्त करने के जिन अष्टांगों की चर्चा मिलती है वे एक तरह से नैतिक सदाचार के मूल तत्त्व हैं। इसी सदाचार को शील की संज्ञा दी गई है। बौद्ध दर्शन में गृहस्थी तथा भिक्षुओं के लिए अलग-अलग आचारों का विधान किया गया है। परन्तु कुछ शील नियम दोनों के लिए समान रूप से स्वीकृत हैं। जैसे-अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा सुरा मैरेय (नशा) का सेवन न करना। भिक्षुओं के लिए अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण, रजत की महाशय्या वर्जित है।

'विसुद्धिमग्ग' में समाधि के स्वरूप की चर्चा मिलती है।

---

1. ताविज्ज सूत्र 1-48
2. संयुक्त निकाय

समाधि के अलावा प्रज्ञा भी निर्वाण के अधिकारी का मूल गुण है। प्रज्ञा 'प्रमाणजन्य युक्तिपूर्ण व समाधिजन्य निश्चय' को कहा जाता है।[१] प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानदर्शन, शरीर का निर्माण, पूर्व जन्म स्मरण, दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। अन्ततः इसी से दुःख नष्ट होता है। भोग, इच्छा, भव-बन्ध तथा अविद्या का विनाश प्रज्ञा से ही होता है। गौतम बुद्ध ने शील, समाधि व प्रज्ञा का त्रिरत्न के रूप में उपदेश किया है, शील तथा समाधि से युक्त प्रज्ञा धार्मिक जीवन का मूल आधार है। प्रज्ञा बोधि या बुद्धत्व प्राप्ति का सर्वोच्च द्वार है।

शील, समाधि व प्रज्ञा द्वारा अनुशासित अष्टांगमार्ग निर्वाण के लक्ष्य तक पहुँचाता है। नैतिक आचरण की पराकाष्ठा को 'अर्हत्' की संज्ञा इसमें दी गई है। यही अवस्था मुक्ति के रूप में जानी जाती है। यही निर्वाण है, जहाँ राग, द्वेष, मोह जैसे विकार बुझ जाते हैं। इसी अर्थ में पालि ग्रन्थ निर्वाण को 'निब्बान 'अर्थात्' बुझ जाना मानते हैं। जीवन को जीते हुए यह अवस्था जीवन मुक्त कही जाती है।

निर्वाण के दो रूप उपलब्ध हैं-

१- सोपाधिक निर्वाण ।

२- निरुपाधिक निर्वाण ।

प्रथम निर्वाण में पंच स्कन्ध विद्यमान रहते हैं किन्तु द्वितीय में सम्पूर्ण लोप हो जाता है। यही परिनिर्वाण होता है।

---

1. अभिधर्मकोशः 6-5

बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं-

१- हीनयान *२- महायान*

हीनयान प्रारम्भिक मत है तथा महायान उन्नत एवं परिवर्धित रूप है। हीनयान के अनुसार निर्वाण का अर्थ निषेधात्मक रूप में दुःख निवृत्ति है। सम्पूर्ण क्लेशों से निवृत्ति प्राप्त करना ही निर्वाण है। निर्वाण में भी कुछ न कुछ दुःख अवश्य रहा करता है। क्योंकि निर्वाण की खोज करने वाला नाना संयमों से अपने शरीर को मन तथ इन्द्रियों को तप्त किया करते हैं। परन्तु नागसेन ने इसके विरुद्ध कहा है कि निर्वाण में दुःख तो रहता ही नहीं है। वहाँ तो सुख ही सुख है।

स्थविरवादी निर्वाण को पूर्ण ज्ञान की अवस्था मानते हैं। वैभाषिक मत के अनुसार निर्वाण विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सभी आस्रवों व संस्कारों के अन्त होने की अवस्था है। सौत्रान्तिक मत में निर्वाण कोई वस्तु नहीं है। वे इसे चेतना की अवस्था मानते हैं। यही परम शान्ति की अवस्था है।

महायान सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण की अवस्था में दुःखों की ही निवृत्ति नहीं होती अपितु ज्ञान की भी अवस्था प्राप्त हो जाती है। महायानी बुद्धत्व-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इनके अनुसार निर्वाण ही परमार्थ भूत है। इसी की एकमात्र सत्ता है अन्य पदार्थ चित्त के केवल विकल्प मात्र हैं। इस तरह निर्वाण और संसार में धर्म समता रहती है। इन दोनों का सम्बन्ध समुद्र और लहरों के समान है।

---

1. मिलिन्द प्रश्न, पृ. 384-403, भारतीय दर्शन, बल्देव उपाध्याय

हीनयानी निर्वाण और संसार की धर्म समता को हीनयानी स्वीकार नहीं करते हैं। वह जगत् को उसी तरह सत्य मानते हैं जिस तरह निर्वाण को। जबकि महायानी माध्यमिक और योगाचार की सम्मति में निर्वाण अद्वैत है। अर्थात् उसमें ज्ञाता, ज्ञेय, विषय और विषयी विधि निषेध का द्वैत किसी तरह विद्यमान नहीं रहता। यही परम तत्त्व है। जगत् का प्रपंच मायिक तथा मिथ्या है। इनका मत है कि जगत् के पदार्थों के अभाव में उनकी शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा आचरण स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी अवस्था में सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है।

महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। इसी उद्देश्यगत भिन्नता से हीनयानी के निर्वाण से महायानी निर्वाण का स्वरूप भिन्न हो जाता है। इसमें भी सोपाधिक तथा निरुपाधिक निर्वाण, दो भेद उपलब्ध होते हैं।[1]

१- सोपाधिशेष निर्वाण- इसमें अविद्या, राग आदि क्लेशों का प्रहाण हो जाता है, किन्तु शरीर का नाश नहीं होता। महायानियों की बोधिसत्त्व-कल्पना का समावेश भी सोपाधिशेष निर्वाण के अन्तर्गत हो जाता है। कुछ लोग इसे 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' भी कहते हैं। बोधिसत्त्व का अर्थ है, ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक इसका आदर्श महाकरुणा है। वह संसार के दुःख को दूर करने व रक्षा करने के लिए रहता है। उसे इस बात का भय नहीं है कि उसका ज्ञान समल हो जाएगा। उसे षट् पारमिताओं को ग्रहण

1. चन्द्रकीर्ति माध्यमिककारिता वृत्ति प्रसन्नपदा, पृ. 519

करना चाहिए। ६ पारमिताएँ निम्नांकित हैं–

१. दान पारमिता २. शील पारमिता ३. क्षान्ति पारमिता ४. वीर्य पारमिता
५. ध्यान पारमिता ६. प्रज्ञा पारमिता।

संक्षेप में ही इनका विवेचन यहाँ सम्भव है। बोधिसत्त्व के पास जो कुछ भी है, उसे प्रसन्न चित्त से दान देना चाहिए। शील का अर्थ नैतिकता है। किसी को कष्ट न देते हुए जीवन मात्र के प्रति नैतिक कल्याण कारी आचरण की भावना ही शील पारमिता है। क्षान्ति का अर्थ सहनशीलता, धैर्यवान् होना तथा सांसारिक बुराइयों को देखकर खिन्न न होना। बोधिसत्त्व को क्रोध और उत्तेजना से मुक्त होना बुराई के बदले क्षमा करने का अभ्यास, एवं बुरे विचारों को रोकना। वीर्य का अर्थ शक्ति व उत्साह है। बोधिसत्त्व को कुशल उत्साह से दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि वह अकेले ही संसार में सभी जीवों का निर्वाण के मार्ग में बढ़ाने में समर्थ हो। ध्यान का अर्थ एकाग्रता और मन की स्थिरता है। चित्त एकाग्रता के बिना प्रज्ञान का उद्भव नहीं होता। अतः योग के समान बोधिसत्त्व को अपने मन के किसी भी पदार्थ पर कितने भी समय तक स्थिर रखने में समर्थ होना ही ध्यान पारमिता है।

प्रज्ञा पारमिता– प्रज्ञा का अर्थ ज्ञान, अन्तदृष्टि अपरोक्षानुभूति पूर्ण ज्ञान होता है। यह दृश्य जगत के पदार्थों की स्वभाव शून्यता का ज्ञान है। अतः प्रज्ञा पारमिता यर्थाथ ज्ञान को कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम 'भूत तथता' भी है। शान्त चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है जिससे सब आवरणों की अत्यन्त प्राप्ति हो जाती है।[1]

1. बौद्ध धर्म व दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. 184

२- *निरुपधिशेष निर्वाण*- जिसमें स्कन्ध आदि व्यावहारिक सत्ता का सर्वथा प्रहाण होता है। उसे निरुपधिशेष निर्वाण कहते हैं। बौद्धों की यह कल्पना वेदान्त दर्शन एवं सांख्य की जीवनमुक्ति के समान निरुपधिशेष की कल्पना विदेह मुक्ति व कैवल्यमुक्ति के समान है।

हीनयानीय उद्देश्य था- अर्हत् प्राप्ति किन्तु महायानीय उद्देश्य रहा- बुद्धत्त्व प्राप्ति। हीनयान के अनुसार अर्हत्व प्राप्त्यर्थ चार भूमियों की प्राप्ति की साधक के लिए आवश्यक है- १. स्रोत आपन्न २. सकृदागामि ३. अनागामि ४. अर्हत्। जबकि महायान में दश भूमियों का उल्लेख हैं-

१. प्रमुदिता २. विमला ३. प्रभाकरी ४. अर्चिष्मती ५. सुदुर्जया ६. अभिमुखी ७. दूरगंमा ८. अचला ९. साधुमती १०. धर्ममेध।

इस तरह निर्वाण राग द्वेष मोह से परे की अवस्था है।[1] अश्वघोष ने इस अवस्था को इस तरह कहा है- यह आकाश की शून्यता और दर्पण की उज्जवलता की भाँति है और उस अवस्था में सत्य है यर्थाथ है एवं महान् है। यह सब वस्तुओं की प्राप्ति तक पहुँचाता है एवं पूर्ण बनाता है। यह अनश्वरता की उपाधि से उन्मुक्त है। इसके अन्दर जीवन का प्रत्येक पक्ष एवं संसार की प्रत्येक क्रिया प्रतिविम्बित होती है। इसमें न तो कुछ बाहर जाता है और न कुछ प्रवेश करता है। यह एक अमर आत्मा है। इसे अपवित्र करने वाले कोई भी रूप दूषित नहीं कर सकते।

---

1. बौद्ध दर्शन और वेदान्त, चन्द्रधर शर्मा, पृ. 47

यह बुद्धि का सार तत्त्व है। असंग आचार्य के मत में निर्वाण विश्व की महान आत्मा के साथ संयोग है।

हीनयानी स्वार्थवादी इसलिए है क्योंकि वह केवल निर्वाण ही चाहता है, किन्तु महायानियों का आदर्श परोपकारवादी है। बोधिसत्त्व का यह संकल्प है कि जब तक सभी जीव निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेते तब तक मैं भी निर्वाण प्राप्त नहीं करूँगा। इस तरह हीनयानी स्वयं के निर्वाण व बुराइयों के निषेध तक ही सीमित हैं जब कि महायानी जीव के कल्याणार्थ उनकी सेवा और उन्हें निर्वाण की ओर अग्रसर करने पर जोर देने से उनसे बहुत आगे बढ़ गए।[1]

शून्यवाद में सोपधिशेष और निरुपधिशेष निर्वाण के अतिरिक्त अप्रतिष्ठित निर्वाण की भी कल्पना की गई है। माध्यमिकों ने जिस तत्त्व को शून्य रूप माना है उसी का वेदान्तियों ने सद् ब्रह्म के रूप में वर्णन किया है। जैसे ब्रह्म समस्त जगत् का निमित्तोपादान कारण है, वैसे ही दृश्यमान जगत भी शून्य का ही विवर्त है। अतः दोनों के मत में जगत् के मूल में एक अद्वैत तत्त्व है। जैसे ब्रह्म शिव, शान्त, अनिर्वचनीय एवं मायातीत है वैसे ही शून्य तत्त्व भी शिव, शान्त वाणी और मन से अतीत है। अद्वैतवादी विध्यात्मक पद्धति अपनाते हैं जबकि शून्यवादी निषे-धात्मक पद्धति। अद्वैत की पद्धति अनित्य से नित्य की ओर जाने वाली है, जबकि शून्यवादी तत्त्व का स्वरूप स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं है। अद्वैतवादी जीव-ब्रह्म में अभेद मानता है जीवो ब्रहमैव नापरः। जबकि शून्यवादी दोनों में एकत्व स्थापित नहीं करता।

---

1. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन, अशोक कुमार लाह,

(३) जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप :-

जैन दर्शन बौद्ध दर्शन की भाँति विश्व व्यापी भले ही न हो, किन्तु भारत में बौद्ध दर्शन के प्रभाव की अपेक्षा इसका क्षेत्र कुछ अधिक ही दिखाई देता है। छठी सदी में इसका विकास हुआ। जैन मत में २४ तीर्थंकरों का नाम महत्वपूर्ण है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव माने जाते हैं। तीर्थङ्कर उन व्यक्तियों को कहा जाता है, जो मुक्त हैं। ये अपने प्रयत्नों के बल पर बन्धन को त्यागकर मोक्ष को स्वीकार करते हैं। जैनाचार्यों का विचार है कि इनके बताए मार्ग पर चलकर मानव बन्धन से मुक्त हो जाता है। इन्हें जिन नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। 'जिन' शब्द संस्कृत की 'जिजये' धातु से निष्पन्न होता है। राग द्वेषादि पर विजय प्राप्त करने वाले को जिन कहा जाता है। जैन मत के प्रर्वतक 'महावीर' माने जाते हैं। इन्हीं की छत्र-छाया में जैन धर्म पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है। जैन मत मुख्यतः महावीर के उपदेशों पर आधारित है।

इस दर्शन के सम्पूर्ण साहित्य को विकास क्रम की दृष्टि से चार कालों में विभाजित किया जा सकता है।

१. आगम काल २. अनेकान्त स्थापन काल ३. प्रमाण शास्त्र व्यवस्था काल ४. नवीन न्याय काल। इस दर्शन का साहित्य अत्यन्त विशाल हैं। जैनियों का साहित्य प्राकृत भाषा में था। आगे चलकर जैनियों ने संस्कृत को अपनाया। संस्कृत में विशाल साहित्य परम्परा है। वेदान्त- न्याय आदि दर्शनों के ग्रन्थों से इसके ग्रन्थ कम नहीं है। 'तत्त्वार्थविनिश्चय सूत्र' यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का

आदर जैन के दोनों सम्प्रदायों- १. श्वेताम्बर २. दिगम्बर पूर्णतया करते हैं। प्रमाणशास्त्र व तर्क शास्त्र में भी इस दर्शन का अद्वितीय योगदान है। इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों में अष्ट सहस्री विवरण, अनेकान्त व्यवस्था, जैन-तर्क भाषा, नयोपदेश, भाषा रहस्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जैन धर्म के २३वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ ने अमृततत्त्व सिद्धान्त को स्थिर किया।

जैन दर्शन के चार सिद्धान्तों में आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद् वाद तथा समाज में अपरिग्रह प्रमुख हैं। प्रो. हिरियन्ना ने कहा है[1] कि सच्ची बात यह है कि जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य आत्मा को पूर्ण बनाना है, न कि विश्व की व्याख्या करना। इसी बात को एक प्राचीन युक्ति से समर्थन मिलता है, जिसके अनुसार पूरा का पूरा जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य आत्मा को पूर्ण बनाना है, न कि विश्व की व्याख्या करना। इसी बात को एक प्राचीन युक्ति से समर्थन मिलता है जिसके अनुसार पूरा का पूरा जैन धर्म आस्रव और संवर ही है। शेष इसका विस्तार मात्र है।[2] जिस तरह मैं दुःख नहीं चाहता, उसी तरह संसार का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। विश्व के दर्शनों में शायद ही किसी अन्य दर्शन ने अहिंसा पर इतना अधिक जोर दिया हो, जितना जैन दर्शन में दिया गया है। प्रो. विन्टरनिट्ज लिखते हैं[3] भारत में किसी अन्य धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अहिंसा के आदेश पर सर्वाधिक जोर देता है।

---

1. प्रो. हिरियन्ना भारतीय दर्शन, पृ. 174।
2. जह ममण पियं दुःख जाणिहि एमेव सत्त्व जीवाणं। आचारांग।
3. प्रो. विन्टरनिट्ज ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर भाग-2, पृ. 425।

जैन दर्शन में सत् और तत्त्व दोनों एकार्थक है। सत् और द्रव्य भी एकार्थक हैं, क्योंकि सब एक हैं, इसलिए सब सत् हैं। जैन दर्शन सात द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार करता है। ये इस तरह हैं, जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। कभी-कभी इनमें पाप और पुण्य जोड़कर नौ तत्त्व मान लिए जाते हैं। कुछ दार्शनिक दो द्रव्यों को आस्रव के अन्तर्गत समझते हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार बन्धन में पड़े व्यक्ति को मोक्ष के लिए इन्हीं सात द्रव्यों के ज्ञान की आवश्यकता है। उनका विश्वास है कि जिन लोगों के पथ प्रदर्शक आप नहीं है उनके लिए न तो पाप पुण्य रूप क्रिया का कोई नियम है, न संसार में आने जाने का कोई फल और न ही ऐसे लोगों पर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था लागू हो सकती है।

बन्ध के कारण ही जीव जन्म-मरण आदि दुःख परम्परा का अनुभव करता है। वह अनादि काल से कर्म के अधीन होकर नाना क्रियाएँ करता रहता है। कर्मों का समूल एक तरह का बन्धन है तथा आत्मा बध्य है। जिस तरह मिट्टी से लिपटे हुए हीरे का प्रकाश दिखाई नहीं देता बल्कि मिट्टी का ढ़ेला ही प्रतीत होता है उसी तरह कर्म रूपी कर्दम से मलिन होने के कारण आत्मा का स्वरूप भी धुंधला पड़ जाता है। यह सर्वाधिक चमकीला सत्य है, पर आवरणीय मोहनीय कर्मों के कारण प्रकाशित नहीं होता। धूल जमीं हुई मणि के समान उसकी दशा होती है। अतः मुक्ति के लिए बन्धन आवश्यक है। जब जीव, साधना मार्ग पर आरुढ़ हो जाता है तो कर्म बन्धन की समाप्ति होने पर मुक्त हो जाता है। यही मुक्त जीव ही ईश्वर है। ईश्वर कोई अलग तत्त्व नहीं है बल्कि बन्धन से मुक्त जीव ही ईश्वर है।

अतः आत्मा ही बन्ध एवं मोक्ष का अधिकारी है मुक्ति के ज्ञान से पूर्व बन्ध का होना परमावश्यक है। क्योंकि बन्धन मुक्ति का साधन है। मुक्त जीव ही ईश्वर है ईश्वर कोई अलग तत्त्व नहीं है बल्कि बन्धन से मुक्त जीव ही ईश्वर है।

बन्ध का मुख्य कारण जैन मत में योग एवं कषाय होता है। योग का सम्बन्ध शरीर मन और वाणी से तथा कषाय, क्रोध, वासना से सम्बन्धित है। प्रत्येक क्रिया कर्मफल से जनित होता है जिससे कर्म बन्ध विशेष बलवान होता है और जो कर्म कषाय से मुक्त होता है, वह निर्बल एवं अल्प समय तक ही रहने वाला होता है। इसे नष्ट करने के लिए अधिक शक्ति एवं समय की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कर्म बन्ध से आत्मा बद्ध होती है।

बन्ध के पहले कर्म अणु से भी छोटे द्रव्य (पुद्गल) के कण हैं। कर्मों के स्वरूप की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। प्रो. नथमल टाटिया लिखते हैं कि कर्म केवल आत्मनिष्ठ हीनहीं है, जैसा कि बौद्ध दार्शनिकों के विचार हैं वे वस्तुनिष्ठ भी हैं। कर्म का यह सम्प्रत्ययन कि वह केवल भाव ही नहीं बल्कि द्रव्य भी है। जैन दार्शनिकों की यही अपनी विशेषता है।

कर्मों की यह प्रकृति है कि वह आत्मा के ज्ञान दर्शन श्रद्धा और शुभ कर्मों आदि गुणों पर आच्छादित होकर उसे सुख-दुःख आदि का अनुभव कराया करती है। कर्मों का लक्षण करते हुए परमात्मप्रकाश में प्रतिपादित किया गया है कि विषयों के रंग से कुलषित परमाणु आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे मोह लेते हैं, भगवान् उसे कर्म कहते हैं।

विसयकसायहिः रंगियहं जे अगुया लग्गंति।
जीवयस्सहं मोहियहं ते जिया कम्म भगंति।।   परमात्मप्रकाशकारिका 62

(१) **घातीय कर्म** :- ज्ञानावरणीय यह जीव या आत्मा के सच्चे ज्ञान पर प्रकाश डालता है। दर्शनावरणीय कर्म वे कर्म हैं, जो जीव के सम्यक् दर्शन पर आवरण डालकर धुंधला कर देता है। मोहनीय कर्म वे हैं जो सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चरित्र के प्रति जीव के दृष्टि कोण पर आवरण डालकर धूमिल कर देता है। अन्तराय कर्म वे हैं जो आत्मा के शुभ कर्मों को करने की आन्तरिक शक्ति पर आवरण डालकर उन्हें धुंधला बना देता है।

(२) **अघातीय कर्म** :- वेदनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र आदि कर्म अघातीय होते हैं। जिस तरह के कर्मों से जीव बँधा रहता है उसी तरह की उसकी प्रकृति हो जाती है। घातीय कर्म ज्ञानादि गुणों को दबाकर उनका घात करते हैं। शेष उक्त अघातीय चार कर्म आत्मा के नाम गोत्र आदि उत्पत्ति के कारण तो हैं पर वे आवरण नहीं डालते हैं। इसलिए ये अघातीय कर्म कहे जाते हैं।

ये सभी कर्म मोक्ष-प्राप्ति में बाधक हैं। यदि आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेती है तो इन कर्मों का नाश हो जाता है फिर संसार की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे भुने हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कर्म बीज का नाश होने पर संसारांकुर उत्पन्न नहीं होता।

बन्धन के कारण - उमास्वाती के अनुसार मिथ्यात्त्व प्रतीति, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धन के कारण हैं। इनके कारण ही दर्शनावरज, ज्ञानावरज आदि चार तरह के कर्म पुद्गलों का निर्माण होता है। इसी वजह से समस्त कर्म अपना कार्य करते हैं। इसी से आत्मा का बन्धन हो जाता है।

तत्वार्थसूत्र में प्रतिपादित है कि उक्त कर्म बन्धनों का कारण कर्मों का जीव या आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाना है तो इनका आत्मा से अलग होना ही मोक्ष है।[1]

संवर- कर्मों के आस्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। जैसा कि उदाहरण द्वारा प्रतिपादित है कि जिस तरह अच्छी तरह से नगर को बन्द करने से शत्रु अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता, उसी तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिग्रह, जय और चरित्र द्वारा इन्द्रिय कषाय और योग भली-भाँति संवृत कर देने पर आत्मा में आने वाले नवीन कर्मों का द्वार रुक जाना संवर कहलाता है। "संव्रियते निरुद्धयते आत्मतडागे कर्मजलं प्रविज्ञातम् एभिरिति इति संवरा" ऐसी संवर की व्युत्पत्ति है। आत्मा रूपी तालाब में प्रवेश करते हुए कर्म रूपी जल को जिसके द्वारा रोका जाए वही संवर है। यह द्रव्य और भाव दो तरह का संवर होता है। कर्म पुद्गल के प्रवाह को रोक देना द्रव्य संवर है। आस्रव के कारण भूत, ईर्ष्या, द्वेष तथा योग आदि भावों को रोकना भावसंवर है। यही दोनों मुक्ति का आधार है।

संवर प्राप्ति के जैन दर्शन में ६ उपाय निर्दिष्ट हैं -

१. गुप्ति २. समिति ३. धर्म ४. अनुप्रेक्षा ५. परिषद् ६. चरित्र।

योग की प्रवृत्तियों को रोकना गुप्ति है। यह मानसिक कायिक वाचिक तीन तरह की होती है।

---

1. जीवकर्मभ्यो बन्धः स्यान्मिथः साऽभिलाषुकः।
जीवकर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्। पंचाध्यायी 2/204

समिति सभी तरह के आस्रवों को रोकने के कारण होती है। जैसे अहिंसा वृत्ति के पालन के लिए निषिद्ध वृत्तियों का त्याग करना ही समिति है। ये पाँच है- ईर्या, भाषा, एषणा, दान, निक्षेप और उत्सर्ग।

धर्म का आचरण करने वाला मुनि मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य मत में किसी वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है।

अनुप्रेक्षा राग द्वेषादि दुष्प्रवृत्तियों को रोकने वाली शुद्ध आध्यात्मिक भावना का नाम है। यह १२ प्रकार की होती है-

१. संसार का अनित्यत्व।

२. सत्य के अलावा किसी की शरण नहीं।

३. जन्म मरण चक्र का अभाव।

४. अपने शुभ-अशुभ के लिए प्रत्येक व्यक्ति जिम्मेदार है।

५. आत्मा का अनात्मा से भेद। ६. शरीर की अशुचिता।

७. कर्म द्रव्यों का जीव में प्रवेश करना।

८. प्रविष्ट कर्मों का नाश। ६. संसार का स्वरूप।

१०. सम्यक् दर्शक, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चरित्र को प्राप्त करने में आने वाली कठिनाईयों का चिन्तन।

११. मोक्ष प्राप्ति का मार्ग।

उक्त सभी निजर्रा मोक्ष की ओर ले जाती है। पुराने कर्मों का क्षय बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। अतः पूर्व बद्ध कर्मों के क्षय की विधि को जैनागम में निजर्रा कहते हैं। यह दो तरह की है-

१. सविपाक निजर्रा। २. अविपाक निजर्रा।

'निजर्रा' की स्थिति में नए कर्मों का आत्मा से सम्बद्ध होना

रुक जाता है और पुराने कर्मों की निजर्रा हो जाती है तो जीव मुक्त हो जाता है। निजर्रा के पूर्ण हो जाने पर तत्क्षण तीन घटनायें होती हैं। वे हैं- १. जीव का शरीर से विच्छिन्न होना। २. जीव का ऊपर की ओर गति करना। ३. लौकिक आकाश के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचना।

मुक्ति के साधन :- आत्मा संस्कार होने पर सदा संसार व्याधि से मुक्ति दिलाने वाले साधनों का सेवन करना पड़ता है। वे साक्षात् साधन हैं-

१. सम्यक् दर्शन २. सम्यक् ज्ञान ३. सम्यक् चरित्र।[1]

इनमें ज्ञान और दर्शन का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है तथा बिना दर्शन के पूर्णतया चरित्र की प्राप्ति हो नहीं सकती। अतः इन तीनों हेतुओं का संयोग ही मोक्ष का मार्ग बताया गया है। इसे विशेष प्रयत्न से प्राप्त करना चाहिए।[2]

१. सम्यक् दर्शन :- जैन सन्तों व जैन दर्शन के तत्त्वों में पूर्ण श्रद्धा होना सम्यग् दर्शन है। तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्। इससे आत्मा के रोगादि विकार दूर हो जाते हैं। अतः मुक्ति में इसका महत्त्व है।

२. सम्यग् ज्ञान :- मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होकर वह अपने से भिन्न पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ अपनी शुद्ध स्वरूपता

---

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थसूत्र 1/1
2. मार्गो मोक्षस्य वै सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकः आप्तपरीक्षा का. 117

का आचरण करता है। इस तरह आत्मा का स्व-पर पदार्थों का यर्थाथ ज्ञान प्राप्त करना ही सम्यग् ज्ञान है। यह ज्ञान संशय, मोह से रहित होता है।

३. सम्यक् चरित्र :- अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का अत्यन्त सावधानी से पालन करना ही इनका मुख्य लक्षण हैं। मनुष्य को मन-वचन कर्म से हिंसा का परित्याग करना चाहिए।

इस तरह ज्ञान, दर्शन व चरित्र तीनों मिलकर आस्रव प्रवाह से पैदा होने वाले कर्म रूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकते हैं। तीन रत्न धारण करने वालों में अग्रणी आचार्यों में सम्यक् दृष्टि, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र इन तीनों को ही परम धर्म कहा गया है। धर्म, कर्मरूपी तृण को जलाने के लिए अग्नि का कार्य करता है।[1]

इन तीनों साधनों से सम्पन्न होकर अर्हत् मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। अर्हत् गुण स्थान रूपी सभी सोपानों को पार करता हुआ ही उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

मुक्ति :- इस तरह उपरिलिखित क्रम से संवर निजर्रा आदि कारणों से पैदा होने वाले बन्ध तथा उससे उत्पन्न करने वाले सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा नाश होने पर आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही उसकी मुक्ति होती है। अतः मोक्ष का लक्षण करते हुए कहा गया है कि बन्ध के कारणों का अभाव हो जाना, बन्ध का जीर्ण हो जाना, सम्पूर्ण कर्मों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष होता है।[2]

---

1. सिद्धान्तसार संग्रह का. 135
2. अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा।
   कृत्स्न कर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते।। तत्त्वर्थसार 8/2

मुक्ति के दो भेद हैं- १. द्रव्यमुक्ति २. भाव मुक्ति।
बीज के स्वभाव परिणाम द्वारा शेष आयु, नाम, गोत्र वेदनीय आदि कर्मों का नाश हो जाना द्रव्य मोक्ष है। परमोत्कृष्ट श्रेष्ठ ध्यान योग से चैतन्य स्वरूप आत्मा का सम्पूर्ण कर्मों से अलग हो जाना ही द्रव्य मोक्ष है।[1] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय इन चार तरह के कर्मों का नाश होना ही भाव मोक्ष है। इसमें मिथ्या, प्रमाद, कषाय आदि दोषों का लेश नहीं रह जाता। जैनाचार्यों के अनुसार कल्याण चाहने वाले जीव के सभी कर्मों के क्षय का कारण परिणाम ही मोक्ष है।[2]

मोक्ष में जीव का सद्भाव होता है, असद्भाव नहीं। विद्यानन्दी का कथन है कि मोक्ष में जीव का अभाव सिद्ध करने वाला न तो कोई ठोस प्रभाव है न सम्यक् हेतु।

जैन दर्शन वस्तुतः पूर्ण नैतिक जीवन से ओत-प्रोत है। मुक्त जीव संसार की सीमा से परे नहीं जा सकता। अतः वह पुनः संसार में आता है ऐसी इस दर्शन की मान्यता है। जैन दर्शन में मोक्ष का अभिप्राय जीव के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति ही है।

---

1. वर्धमान पुरा. 16/73
2. सर्वेषां कर्मणां योऽत्र क्षयहेतुः शिवार्थिनः।
   परिणामोऽतिशुद्धिः स भाव मोक्षो जिनमतं।। वही 16/72
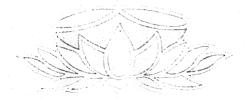
चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

सांख्य तथा योग दर्शन में कैवल्य का स्वरूप :-

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। यह भारत का अत्यन्त प्राचीन दर्शन माना जाता है। इसका संकेत श्वेताश्वतर कठ आदि उपनिषदों में प्राप्त होता है। महाभारत में भी पुरुष भेद निरुपित है। सांख्य योग का नाम गीता के पाँचवें अध्याय के श्लोक संख्या चार में आया है।[1] यहाँ सांख्य शब्द ज्ञानपरक है। वैसे प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान ही सांख्य से अभिप्रेत है।

सांख्य शब्द संख्या से व्युत्पन्न होता है। यह यौगिक है। प्रकृति पुरुष आदि २५ तत्त्वों की संख्या बतलाने से इसे सांख्य कहा जाता है।[2] अन्य कारण भी एक यह है कि सांख्य के प्रणेता का नाम संख था। परन्तु यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि महर्षि कपिल को छोड़कर किसी अन्य को सांख्य का प्रणेता मानना भ्रान्तिमूलक है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है। इन्हें ब्रह्मा, विष्णु और अग्नि का अवतार माना जाता है। डॉ. राधाष्णन् ने कपिल को बुद्ध से एक शताब्दी पूर्व माना है।[3]

रि. गार्वे महोदय ने सांख्य दर्शन को मानवबुद्धि पर निर्भर होने से उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है- कपिल के सिद्धान्तों में संसार के इतिहास में सर्वप्रथम मानव मन की पूर्ण स्वतन्त्रता तथ अपनी शक्तियों में उसका पूर्ण विश्वास दिखाई दिया। सिद्धानां कपिलो मुनिः अर्थात् मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

---

1. सांख्य योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
   एकमप्यस्थितः सम्यगुभ्योर्विन्दते फलम्।। गीता 5/4
2. संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
   तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः।।
   भारतीय दर्शन एवं मुक्ति मीमांसा पृ. 101
3. डॉ. एस. राधाकृष्णन् इण्डियन फिलॉसाफी भाग 2 पृ. 234
4. वही पृ. 247

डॉ. किशोरदास स्वामी

सभी आस्तिक दर्शनों की तरह सांख्य भी कर्म सिद्धान्त पुनर्जन्म और मोक्ष को मानता है। सांख्य दर्शन में तीन तरह के दुःखों की निवृत्ति को ही अत्यन्त पुरुषार्थ मान गया है यही इसके मोक्ष (कैवल्य) का निरूपण है१। कैवल्य स्वरूप जानने के लिये बौद्धों के चार आर्य सत्यों को जानना आवश्यक है।

१- दुःख २- दुःख का कारण

३- दुःख निरोध ४- दुःख निरोध का उपाय

यही सिद्धान्त सांख्य में भी पाये जाते है। अतः सांख्य एवं बौद्ध दोनों ही दर्शन दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग अपनाते हुए दिखाई देते हैं। बौद्धों ने सांख्यदर्शन को ही आधार बनाया। सांख्यदर्शन में त्रिविध दुःख निम्नांकित हैं-

१- आध्यात्मिकम्

२- आधिभैतिकम्

३- आधिदेविकम्

इनमें प्रथम आध्यात्मिक दुःख आत्मसम्बद्ध है। यह शारीरिक और मानसिक दो तरह का होता है शारीरिक वात पित्त कफ आदि दुःख होते हैं। जो दुःख बाह्य पदार्थों की वजह से उत्पन्न होते है वे आधिभौतिक होते हैं। जैसे पशु और प्रकृति के कारण उत्पन्न दुःख। आधिदैविक दुःख भूत प्रेत एवं देवताओं से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में इन दुःखों से मुक्ति के लिए मनुष्य सचेष्ट रहता है और सभी चाहते हैं कि वे आनन्द की प्राप्ति करें। योगसूत्र में कहा गया है कि अनागत अवस्था का सूक्ष्म दुःख है। उसकी निवृत्ति से मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है।

---

1. अथ त्रिविधदुःखनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थ सांख्यसूत्र 1/1

अज्ञान ही दुःख का कारण होता है। संसार की वस्तुओं को यथार्थ रूप में न जानने के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है। ज्यों -ज्यों हम उसके रूप को जानने लगते हैं त्यों-त्यों हमारे दुःख की निवृत्ति हो जाती है इसलिए भारतीय दर्शन में तत्त्व ज्ञान से मोक्ष अर्थात् दुःख निवृत्ति का उदय माना जाता है। दुःखों का पूर्ण विनाश मोक्ष से ही सम्भव है। मोक्ष का अर्थ त्रिविध दुःख का अभाव है। मोक्ष ही परम अपवर्ग या पुरुषार्थ है।

सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। कार्यकारण सिद्धान्त उनका एक विशिष्ट मत है। उनका कथन है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में अवश्य विद्यमान रहता है, परन्तु अव्यक्त रूप में कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम कार्य है। इस तरह कार्य कारण का भेद व्यावहारिक है। इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद के नाम से जाना जाता है। सांख्याचार्यों ने सांख्यकारिका[1] (ईश्वरकृष्णकृत) में इसकी पुष्टि बहुत अच्छे ढ़ंग से की है।

इस सिद्धान्त की अवधारणा यह है कि अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती है। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती तो कर्ता के लाख प्रयत्न करने पर यह कार्य उत्पन्न नहीं होता। जैसे बालू की रेत की उत्पत्ति असम्भव है। किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है। दही चाहने वाला दूध को ग्रहण करता है। वैसे ही तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है। इन व्यवहारिक दृष्टान्तों से कार्य कारण का सम्बन्ध नियत है। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं होती। कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्तरूप से पड़ी रहती है।

---

1. असदकरणादुपादान ग्रह्णात् सर्वसम्भवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारण भावाच्च सत् कार्यम्।। सां० का० 9

कार्य तथा कारण की एकता स्वाभाविक है। इससे सिद्ध होता है। कि जिस वस्तु में जो है, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता ऐसा गीता में कहा गया है[1]। सतः सज्जायते सत् से सत् की उत्पत्ति होती है, ऐसा सांख्य सिद्धान्त है। कुछ दार्शनिक यह मत भी मानते हैं कि असतः सज्जायते असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। यह बौद्धों का सिद्धान्त है। एकस्य सतो विवर्तः कार्यं जातं न वस्तु सत्। यह समस्त कार्य एक सत् वस्तु का विवर्त है, वास्तविक नहीं, यह वेदान्तियों का सिद्धान्त है। सतोऽसज्जायते सत् से असत् की उत्पत्ति यह नैयायिकों और वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

सांख्य के अनुसार दुःख यदि हमारे वर्तमान जीवन का कार्य है तो उसका कारण अवश्य होगा। हमारी अनन्त इच्छाओं की लालसा से मनुष्य सारे कर्मों को करता है। इन कार्यों को करने से उसे सुख-दुःख की अनुभूति होती है और त्रिविध दुःखों की जंजीर में वह जकड़ जाता है। जब उसे अपने 'अहम्' का बोध होता है तो उसके शिकंजे से वह छुटकारा पाता है। क्योंकि इस भ्रमजाल में फँसना उसका स्वाभाविक गुण नहीं है, वह तो उसका आगन्तुक गुण है।

सांख्य के अनुसार लौकिक और वैदिक दोनों उपाय दुःखों की ऐकान्तिक (नियत निवृत्ति) और आत्यन्तिक (दुःखों का कभी उत्पन्न न होना) निवृत्ति नहीं कर सकते हैं। "अपाम सोमममृता अभूम" हमने सोम रस पिया और अमर हो गये यह साविर्धिक सुख है। प्रलय होने के पहले तक देवताओं का स्वर्ग में बने रहना ही अमरता है।[2] यज्ञ-यागादि सदैव अमरता को प्राप्त करने का उपाय नहीं है। बल्कि त्याग व तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।[3]

---

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सति।
   उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।
2. आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्त्वं हि भाष्ये वि. पु.।
3. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृततत्त्वभानुगः।

भगवद् गीता के अट्ठारहवें अध्याय के द्वितीय श्लोक में श्रीकृष्ण पार्थ को यही उपदेश देते हैं कि कर्मफल का त्याग कर देने पर मुक्ति मिल सकती है। किन्तु यह त्याग ज्ञान मार्ग के अवलम्बन से ही सम्भव है। प्रोफेसर हिरियन्ना के शब्दों में गीता कर्म के त्याग के बदले कर्म में त्याग का उपदेश देती है। सांख्य दर्शन दो मूल तत्त्वों को प्रतिपादित करता है।

१. पुरुष २. प्रकृति

१. पुरुष :- पुरुष ज्ञ (चेतन पुरुष) व्यक्त (स्थूल प्रकृति) अव्यक्त (सूक्ष्म प्रकृति) के विवेक करने से होता है। पुरुष प्रकृति एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। प्रकृति सत्त्व रजस् और तमस् इन तीनों की साम्यावस्था का नाम है। जब प्रकृति, पुरुष के सान्निध्य अर्थात् सम्पर्क में आती है तो इस साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न होता है जिसे गुण क्षोभ कहा जाता है। यहीं से विकास प्रारम्भ होता है। प्रकृति से ही संसार की उत्पत्ति होती है[४]और वह स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं है। पुरुष न किसी को उत्पन्न करता है और न किसी से उत्पन्न होता है।

प्रकृति जगत् रूप कार्य को उत्पन्न करने में स्वतन्त्र है वह ईश्वराधीन नहीं है। सांख्याचार्यों ने प्रकृति को अचेतन माना है तथा जड़ माना है। जैसा कि सांख्याकारिका[५]में प्रतिपादित है कि यह अचेतन तत्त्व प्रकृति पुरुष (चेतन तत्त्व) के मोक्ष एवं अपवर्ग के लिए प्रवृत्त होती है। जैसे गाय के स्तन से बछड़े के निमत्त स्वतः दूध निकलता है जिस तरह जल स्वतः प्रवाहित होता है उसी तरह यह प्रकृति जो जड़ है, वह पुरुष का भोग एवं अपवर्ग देने में प्रवृत्त होती है।

---

1. वस्तु कर्मफल त्यागी व्यभिधीयते। गीता 18-11
2. एम. हिरियन्ना आउटा लाइन्स पृ. 121
3. दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशयुक्तः।
   तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।
4. प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिः सांख्यतत्त्व कौमुदी। 5. सां. का. 57

प्रकृति भी किसी से उत्पन्न नहीं होती। वेदों में इसे इसीलिए 'अजा' कहा गया है। न जायते इत्यजा। सांख्य दर्शन में प्रकृति का लक्षण करते हुए कहा गया है कि मूले मूलाभावात् अमूलं मूलम्। इसका आशय यह है कि तेईस तत्त्वों का मूल उपादान कारण है। इसका कोई अन्य मूल नहीं है। कारण मानने से अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। दूसरे तत्त्वों का आरम्भ करने वाला जो तत्त्व है, वह प्रकृति है। तत्त्वान्तरारम्भकत्वं प्रकृ- तित्वम्। जितने भी तेईस तत्त्व हैं वे सभी प्रकृति के कार्य है। इसी अभिप्राय से महर्षि कपिल ने मूले मूलाऽभावात् सूत्र का निर्माण किया। महत् अहंकार और मन ये तीनों टहनियाँ जिसकी हों ऐसे अन्तःकरण रूपी वृक्ष का महत् तत्त्व (अहंकार स्थानीय) जिससे वे सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वपालक तथा सर्वसहिता कहे जाते है।[१] प्रकृति से महत् उत्पन्न होता है महत् से अहंकार इससे एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।[२]

सांख्यसूत्र में कहा गया है कि इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न होती है ऐसी श्रुति भी है। सांख्य विकास क्रम निम्नांकित है-

१. प्रकृति २. महत् या बुद्धि ३. अहंकार

सात्विक अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती है। तामस अहंकार से पंच तन्मात्रायें तथा पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति मूलभूत है। वह अविकारी होती है। महादादि सात तत्त्व (महत् अहंकार पंचतन्मात्रायें) प्रकृति भी हैं तथा विकृति भी है। इन्द्रियाँ और पाँच महभूत मिलकर १६ पदार्थ केवल कार्य हैं। पुरुष न प्रकृति है न ही विकृति है।

---

1. सविकारत् प्रधानस्तु महत्त्वमजायत।
   महानिति अतः ख्यातिर्लोकानां जायते तदा।। मत्स्यपुराण
2. सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
   भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्। सां. का. 25

न किसी का कार्य है तथा न कारण है।[1] वह मूल प्रकृति और स्थूल प्रकृति दोनों से विलक्षण है।

सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि एक दूसरे के हित के प्रयोजन के लिए साथ होते हैं। जिस तरह जंगल को जल्दी पार करने के लिए व्यक्ति को दो स्वस्थ्य पैरों एवं दो आंखों की जरूरत होती है। एक व्यक्ति अन्ध जंगल में भटक रहा है उसे सही मार्ग नहीं मिल पा रहा है, दूसरा व्यक्ति लंगड़ा है जिसे मार्ग दिखाई तो देता है लेकिन वह चल नहीं पा रहा है। दोनों एक दूसरे के सहयोग से पार हो जाते है। इसे ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में-

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।

उक्त कारिका से स्पष्ट किया है पुरुष के द्वारा बुद्धिवृत्तियों का दर्शन तथा प्रधान (प्रकृति) के द्वारा पुरुष का कैवल्य सम्पन्न होने के लिए लंगड़े और नेत्रहीन के समान दोनों का मानो संयोग होता है। अतः प्रकृति और पुरुष सांसारिक क्रिया में या भोगों के विषय में एक दूसरे के सहायक हैं। प्रश्न उठता है कि पुरुष को मोक्ष देने के लिए अनादिकाल से प्रकृति प्रवृत्त होती है पर उस प्रकृति को भोग देने से उसकी निवृत्ति कैसे होगी। बिना प्रकृति के निवृत्तिं से पुरुष का कैवल्य सम्पन्न नहीं हो सकता। उत्तर यह है कि जिस तरह रंगमंच पर कोई नर्तकी नृत्य दिखाकर लौट जाती है वैसे ही प्रकृति पुरुष के सामने

---

1. मूल प्रकृतिरविकृतिर्महराद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष।। सांख्यकारिका 3

अपने को प्रदर्शित करके निवृत्त हो जाती है। जबकि पुरुष उसे अतात्विक और दुःखरूप समझता है।

सांख्य पुरुष अवयवरहित क्रियारहित शान्त, निर्दोष तथा स्वरूप से नित्य है। आनन्दरूपता और चैतन्य ये दोनों उसके धर्म नहीं है। क्योंकि आत्मा या चेतन सुख-दुःख से असंग है। श्रुति भी कहती है-'आनन्दो न निरानन्दम्' यह सब आत्मा के गुण नहीं है। आत्मा सभी विकारों से रहित है, स्वच्छ है, वैसे ही जैसे स्फटिक मणि के समक्ष रक्त वर्ण का पुष्प रख दिया जाए तो वह भी लाल प्रकृति हो जाता है। जबकि लाल हो जाना, उसका गुण नहीं है। उसी तरह पुरुष में उपराग नहीं है। बुद्धि के प्रतिविम्ब के कारण अविवेक से पुरुष के उपराग होता है। बहुरूपी प्रकृति के कारण वह भी नाना रूपों में प्रतीत होता है। वह भी प्रकृति के गुणों से रमण करता हुआ मैं और मेरा रूपी ममता की रस्सी में बँध जाता है। सांख्य पुरुष सामान्य पुरुष नहीं है। यद्यपि पुरुष निष्क्रिय और अभोक्ता तथा उदासीन है किन्तु त्रिगुणात्मक बुद्धि के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर नाना भोगों को भोगता है। यद्यपि पुरुष का न बन्धन है, न मुक्ति ही है न सृष्टि ही है। बन्धन मोक्षादि सब प्रकृति के धर्म है[1]। प्रकृति स्वयं को सात रूपों द्वारा बांधती है।, वे हैं- धर्म-अधर्म, वैराग्य-अवैराग्य ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, अज्ञान। वही प्रकृति अपने एक रूप ज्ञान या सत्त्व पुरुषास्यख्याति रूप तत्त्वज्ञान द्वारा अपने को मुक्त करती है। इसलिए तत्त्व ज्ञान का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए। अभ्यास से मैं और मेरे की प्रतीति नहीं रहती है। *एवं तत्त्वाभ्यासात् नास्मि, न मे नाहमित्यपरिशेषम्।*

---

1. सांख्यकारिका-62।
2. सांख्यकारिका-18।

तत्त्वाभ्यास के परिणाम से पुरुष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है, उस दशा में पुरुष को निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ। 'नास्मि' मुझमें किसी तरह की क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। नाहम्-क्रिया के निषेध होने से मुझमें किसी तरह का कर्तृत्व नहीं तथा न मैं असंग हूँ-संग हीन होने से किसी के साथ मेरा स्वामिभाव का सम्बन्ध नहीं है। इस तरह क्रिया हीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता का अनुभव प्रकृति की निवृत्ति होने पर स्वतः होने लगता है।

पुरुष बहुत्व की सिद्धि सांख्यकारिका के अट्ठारहवें सूत्र में प्रतिपादित है। बद्ध-मुक्त की व्यवस्था तभी बन सकती है जबकि पुरुष बहुत हो। श्रुति भी कहती है- जो आत्मा को जानते हैं वे मुक्त होते हैं और अन्य व्यक्ति दुःख झेलते रहते हैं। सांख्य का यह सिद्धान्त है कि पुरुष शरीर में भिन्न-२ है। यदि भिन्न न होता तो एक पुरुष के शरीर कैवल्य होने पर सभी पुरुषों का शरीर कैवल्य हो जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं है। प्रति पुरुष शरीर भिन्न है तथा सभी के जन्म मरण एवं कारण आदि पृथक-पृथक है। सांख्य का पुरुष तो चेतन है निर्गुण है, नित्य है, कूटस्थ है। परिणाम भी नित्य है। सांख्य सिद्धान्त में इसी को सत्त्व पुरुष अन्यथा ख्याति कहा जाता है। पुरुष तो सत्त्व प्रधान है।

दो तरह की मुक्ति सांख्य दर्शन में निरूपित है।

१. जीवन मुक्ति २. विदेह मुक्ति

जिस समय ज्ञान प्राप्ति हो जाती है, पुरुष उसी क्षण मुक्त हो जाता है। उसका शरीर प्रारब्ध कर्मों के अनुसार चलता रहता है। पूर्व कृत

कर्मों के फलस्वरूप शरीर केवल कुछ समय के लिए संसार में आता है। जिस तरह कुम्भकार का चाक से लाठी हटा लेने पर भी चाक पूर्ववत् बिना प्रयोजन का चलता है उसी तरह जीवन मुक्त महात्माओं का शरीर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार चलता रहता है। परन्तु शरीर से सांसारिक कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। नवीन कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि सभी कर्मों की शक्ति का ध्वंस हो जाता है। सांख्यकारिका ६७ श्लोक में इसे स्फुट रूप से निरूपित किया गया है। ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है परन्तु शरीर प्रारब्ध कर्मवश चलता रहता है। यही जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त है।

प्रकृति भी समझ लेती है कि पुरुष ने मुझे देख लिया है ऐसा कहकर पुरुष से सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है।[1] क्योंकि प्रकृति और पुरुष संयोग वास्तविक संयोग नहीं होता। बल्कि पुरुष का सन्निधि मात्र होता है। दोनों का यह सम्बन्ध स्थाई नहीं है। क्योंकि प्रकृति के समस्त विकारों में प्रथम विकार बुद्धि के सुखःदुःख इत्यादि परिणाम अचेतन है। पुरुष बुद्धि में प्रतिविम्बित होता हुआ उसके साथ तादाम्य ग्रहण करके उसमें स्थित ज्ञान सुख इत्यादि धर्मों के द्वारा भी उनसे युक्त तथा पृथक् होता है जिससे कि निष्क्रिय, निर्लिप्त निस्त्रैगुण्य पुरुष भी अपने को कर्ता, भोक्ता, आसक्त समझने लगता है। इसी व्युत्क्रम रुप से पुरुष के प्रतिविम्ब से अचेतन बुद्धि अपने को चेतनवत् समझने लगती है। यही बुद्धिका पुरुष के लिए विषयों को दिखाना ही बन्धन है। जब पुरुष के विवेक ज्ञान हो जाता है तब पुरुष बुद्धिगत सुख दुःखादि को अपने में न मानकर बुद्धि में मानता है।

---

1. सांख्यकारिका-66।

जब प्रारब्ध कर्मों के कारण देह से भी मुक्ति होती है, उसे तब विदेह मुक्ति कहा जाता है। इस अवस्था में स्थूल सूक्ष्म सभी शरीरों से सम्बन्ध छूट जाता है और पूर्ण कैवल्य प्राप्त हो जाता है। इसके अनुसार मोक्ष, पूर्ण निरोध की अवस्था है। यह सभी दुःखों से निवृत्ति की स्थिति है। इस अवस्था में पुरुष अपनी पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेता है इसमें सुख या आनन्द का अनुभव नहीं होता। आनन्द, सत्त्व गुण का ही फल है, परन्तु मोक्ष की अवस्था गुणों से परे है और पुरुष दुःखों से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।[1]

योगसूत्र में कहा गया है कि अपने स्वरूप में अवस्थित होना ही मोक्ष या कैवल्य है। सांख्यदर्शन कैवल्य तो मानता है, परन्तु ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता। इसलिए वह निरीश्वरवादी कहा जाता है। उसका कथ न है कि हमें ईश्वर की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रकृति ही सम स्त कार्य करती है। ईश्वर को सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। श्री ए० के० मजुमदार यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सांख्यदर्शन ईश्वरवादी है। ईश्वर विश्व का अप्रत्यक्ष कारण है। प्रकृति ने अपनी उपादान शक्ति ईश्वर के सामीप्य के कारण प्राप्त की है। ईश्वर जगत् का प्रत्यक्ष कारण न हो, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसकी सत्ता ही नहीं है। उनका कथन है कि वह कारण न रहते हुए भी सत्ता में विद्यमान हैं तटस्थ द्रष्टा के रूप में भी सत्ता में रह सकता है[2]।

---

1. सांख्य कारिका- 68
2. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवरस्थानम्। योगसूत्र
3. ए0के0 मजुमदार पर्सनालिटी पृ0 14।

लेकिन अणिमा सेन गुप्ता श्री मजुमदार के उक्त मत से सहमत नहीं हैं। वे कहती हैं- परन्तु हम यह नहीं समझ पाते कि ईश्वर के समान किसी अन्य तीसरे पदार्थ इस विश्व और हमारे जीवन की पूर्ण व्याख्या करने के लिए पर्याप्त हैं। लाघव न्याय आदि को हर हालत में स्वीकार करना ही चाहिए। मजुमदार महोदय के उपर्युक्त मत की आलोचना करती हुई लिखती हैं कि ईश्वर का सम्प्रत्ययन सामान्यतया अपने विश्व के उत्पन्न कर्ता का भाव निहित रखता है, अन्यथा वह विश्व की उत्पत्ति के लिए आवश्यक शर्त नहीं रह जाता। यदि ईश्वर से विश्व की उत्पत्ति की शक्ति छीन ली जाती है तो वह सब शक्ति और महत्त्व खो बैठता है जैसा कि योग दर्शन में है। सांख्य सूत्र में कहा गया है कि 'ईश्वरासिद्धिः' (११/९२) अर्थात् ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। सांख्य मत पदार्थों के विवेकसे पुरुष भी कैवल्यधारी हो जाता है। इसलिए यह ईश्वर को नहीं मानता और उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं समझता।

यदि हम सांख्य दर्शन में कैवल्य का अर्थ इस अर्थ में माने कि इस संसार से सम्बन्ध टूटना। जिस तरह सांख्य दर्शन में पुरुष-बहुत्व की सिद्धि में यह स्पष्ट किया गया है कि किसी एक पुरुष के मरने पर सभी मनुष्यों की मृत्यु क्यों नहीं हो जाती और किसी एक व्यक्ति के इन्द्रिय-कैवल्य होने पर भी सभी व्यक्तियों का इन्द्रिय कैवल्य क्यों नहीं हो जाता। अर्थात् पुरुष बहुत हैं। सांख्य का कैवल्य तीन गुणों से रहित है, अर्थात् निर्गुण है।

अतः सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था सुख अथवा आनन्द की अवस्था नहीं है। इसे हम ब्रह्मलोक भी नहीं कह सकते। इस दर्शन के अनुसार केवल ज्ञान अथवा कैवल्य मोक्ष हैं

जब प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तब शरीर पात से विदेह मुक्ति मिलती है। ऐसे समय में चेतना का कार्य अशेष हो जाता है। वह अपनी प्रकृति में विलीन हो जाती है।

वह तत्त्वज्ञान प्राप्ति के कारण पुनः शरीर धारण नहीं करता तथा पुरुष व प्रकृति का संयोग भी नहीं होता। सभी पुरुष दुःखों से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त करता है। यह स्पष्ट करते हुए कारिका का उल्लेख करना समीचीन लगता है।

प्राप्ते शरीरे भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।

(सां० का० ६८)

योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि हैं। इन्हीं के नाम पर इस दर्शन का नाम पतिञ्जल योग दर्शन पड़ा। योगदर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है। योगाभ्यास पर बल देना, इस दर्शन की अपनी विशेषता है। योगदर्शन के ज्ञान का आधार पतञ्जलि द्वारा लिखित योग सूत्र को ही माना जा सकता है। योगसूत्रमें योग के स्वरूप लक्षण और उद्देश्य की पूर्ण चर्चा की गई है। योगसूत्र पर व्यास ने एक भाष्य लिखा है जिसे योग भाष्य कहते हैं। यह भाष्य, योग दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्र पर टीका लिखी है, जो तत्त्व-वैशारदी नाम से जाना जाता है।

योग शब्द युज् धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है-समाधि। योगः समाधिः। अतः योग शब्द से यदि आत्मा एवं परमात्मा का मिलन कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।[1] ईश्वर एवं जीव का जुड़ना ही योग है। व्याकरण शास्त्र में युजिर् योगे तथा युज समाधौ ऐसी दो धातुएँ उपलब्ध होती है। यहाँ 'युज समाधौ' धातु से निष्पन्न योग शब्द गृहीत होता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग का वक्ता है। पंतजलि ने योग का केवल अनुसन्धान किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेश मात्र दिया। अतः वे योग के प्रवर्तक मात्र न होकर प्रचारक या संशोधक मात्र हो सकते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार योगसूत्र के रचयिता तथ व्याकरण महाभाष्य के रचयिता पंतजलि एक ही व्यक्ति है, ऐसा भोजवृत्ति में प्रतिपादित है।[2] योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवों को सर्वसन्तापहर भगवान् से मिलाने में योग ही भक्ति और ज्ञान का प्रधान सहायक है।

---

1. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।
   ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः।। योगदर्पण 93
2. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
   योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पंतजलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।। भोजवृत्ति

भोग, संकल्प, वासना क्लेश आदि भ्रम की वृत्तियाँ मन में जो उत्पन्न होती हैं वे सब संसार रूपी विष वृक्ष की अंकुर स्थनीया हैं। इन वृत्तियों का निरोध योग के अभ्यास से ही हो जाता है।[1] इस अभ्यास योग के द्वारा जीव ब्रह्म के साथ एकता स्थापित करके परम शक्ति प्राप्त करता है।[2]

योगदर्शन में योग के दो भेद हैं- १. सम्प्रज्ञात योग २. असम्प्रज्ञात। एकाग्र चित्त की वह अविचलित अक्षुब्ध अवस्था है, जब ध्येय वस्तु के ऊपर चित् चिरकाल तक रहता है। इसे सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और असम्प्रज्ञात समाधि में किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता है। अतः इसे निर्बीज या विरुद्ध दशा भी कह सकते हैं। इन दोनों समाधियों से आत्मा सब दुःख-सुख से ऊपर उठ जाता है।

समाधिपाद के प्रथम सूत्र में योग का अर्थ अनुशासन है। अनुशासन का अर्थ है- उपदेश दिए गए सिद्धान्त का प्रतिपादन करना। अथ शब्द अधिकारार्थक है। योग का अर्थ है- समाधि, वह चित्त का सार्वभौम धारण है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की पाँच भूमियाँ है।[4] जिसमें क्षिप्त का अर्थ है-चञ्चल। इसमें चित्त चंचल रहता है। मूढ़ चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण विवेक शून्य रहता है। विक्षिप्त चित्त सत्त्व की अधिकता से दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनभूत शब्दादि

---

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः पा. योग द. 1/2
2. अनेनाभ्यासयोगेन परब्रह्मैकतां गता।
   जीवनमुक्तो महायोगी प्रशान्तकरणो भवेत्।। योगदर्शन (पृ. 92)
3. अथ योगानुशासनम् पा. यो. द. 1/1
4. अथव्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदिव्यम्। योगः समाधिः। स च सार्वभौमचित्तस्य धर्मः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धमिति चित्त भूमयः। पातंजलयोगदर्शन भाष्य।

विषयों में प्रवृत्त रहता है। क्षिप्त और विक्षिप्त के मध्य सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। इन दोनों प्रकार के चित्तों में पर्याप्त अन्तर है। एकाग्र का अर्थ हैं- एक ही विषय का चिन्तन करने वाला चित्त। निरुद्ध का अर्थ है- रुका हुआ चित्त, जिसकी सारी वृत्तियाँ रोकी गयी हटाई गयी हों। जब बाहरी वृत्तियों के विरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकार वृत्ति धारण करता है तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं। परन्तु सब वृत्तियों और संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा निरुद्ध है।

योगदर्शन में मोक्ष के लिए २६ तत्त्वों का निरुपण ही प्रमुख विषय है। २५ तत्त्व सांख्य के होते हैं। २६वाँ तत्त्व ईश्वर विशेष है। सांख्य के अनुसार २५वाँ तत्त्व पुरुष होता है। २६वाँ तत्त्व ईश्वर है। चैतन्य रूप से समान होने पर भी पुरुष के गुण प्रकृति के भेद से अनन्त है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में योगशास्त्र का कथन है कि क्लेश, कर्म और उनका फल तथा वासना संस्कार से जिसका सम्पर्क नहीं है, वही पुरुष ईश्वर है। ऐसा श्रुतिवचन भी है। यह ईश्वर अपने उत्कृष्ट ज्ञान बल से जीवों के विहित और निषिद्ध कर्मों को जान लेता है। प्रकृति के गुण धर्मों के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः यह दृश्मान जगत् प्रकृति का ही कार्य और परिणाम विशेष है। प्रकृति ही संसार निर्माण रूप कर्म करती है। अपने इस कार्य में वह परम स्वतन्त्र है। जड़ स्वभाव होने पर भी यह सुकुमारी कुलागंना के समान है। अतः यह चेतन पुरुष का आश्रय लेती है।

यद्यपि चेतन पुरुष में गुण, क्रिया, कर्तृव्य, भोक्तृत्त्व आदि धर्म नहीं है पर दोनों के बराबर समीप रहने से चेतन की छाया पड़ने से इसमें बिम्म प्रतिविम्वभाव बनता है। पुरुष कर्तापन भोक्तापन, सुखी, दुःखी, बन्ध, मोक्ष आदि धर्मों का अनुभव करता है। बद्ध पुरुष में अविद्या रहती है। उसी से उत्पन्न राग द्वेष अस्मिता आदि के कारण वह पुण्य-पाप कर्म करता है। दस कर्म से उत्पन्न कर्माशय (वासना) के कारण त्रिविपाक (जाति, आयु, भोग) प्राप्त होता है और सुखाद्यात्मक अनुभवजन्य फिर वासनायें बनती है। यद्यपि ये सभी व्यापार बुद्धि में होते हैं फिर भी स्वाश्रय प्रतिविम्बित सम्बन्ध से ये पुरुष के धर्म समझे जाते हैं। ईश्वर और मुक्तात्मा दोनों यद्यपि अनादि मुक्त होते हैं।

योगदर्शन, सांख्यदर्शन की तरह बन्धन का मूल कारण अविवेक को मानता है। पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य का ज्ञान नहीं रहने के कारण ही आत्मा बन्धन ग्रस्त हो जाती है। ये तीनों बन्धन है-

१. प्राकृत बन्ध २. वैकारिक बन्ध ३. दाक्षणिक बन्ध।

१- <u>प्राकृत बन्ध</u> :- प्रकृति को ही आत्मा मानकर उसमें मुक्ति की भावना करना। ऐसे पुरुष देहपात के बाद प्रकृति लीन हो जाते हैं क्योंकि वे आत्मसाक्षात्कार नहीं कर पाते। अतः उनका पुनः बन्ध हो सकता है।

२- <u>वैकारिक बन्ध</u> :- महदादि प्रकृति के विकारों में से किसी एक को आत्मा समझकर उसमें लीन होने वाले का भी उत्तर काल में बन्ध सम्भव होता है।

३- <u>दाक्षणिक बन्ध</u> :- दक्षिणा योग आदि के द्वारा दिव्याति दिव्य विषय भोगों को प्राप्त करना। ऐसे लोगों का भी उत्तर काल में बन्ध सम्भव है।

कैवल्य पुरुष का यद्यपि उत्तर बन्ध सम्भव नहीं है। तथापि पहले वह बन्ध में था, यह निश्चित है। किन्तु ईश्वर का न तो पूर्वकाल में बन्ध सम्भव था, न ही उत्तरकाल में बन्ध की सम्भावना है। ईश्वर सदैव मुक्त है, सदैव ऐश्वर्यशाली है। ज्ञान क्रिया शक्ति संयमन ये ही ऐश्वर्य हैं। यह ऐश्वर्य परिणामिनी विच्छेदिका नहीं बल्कि रजस्तम रहित विशुद्ध चित्त सत्त्व का धर्म है। बल्कि तापत्रय से युक्त प्राणियों का ज्ञान और धर्म के उपदेश से उद्धार करूँ। इस तरह की करुणा भावना से ईश्वर स्वयं चित्त तत्त्व का निर्माण करते हैं क्योंकि बिना चित्त सत्त्व के ज्ञान, क्रिया सामर्थ्यातिशय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस तरह यह ईश्वर का आहार्य चित्त सत्त्व है, तात्विक नहीं।

ये दोनों ईश्वर, चित्त में वर्तमान रहते हैं और इन दोनों का सम्बन्ध अनादि है। ईश्वर का ज्ञान भी निरतिशय है।[1] सामान्य लोगों को वर्तमान का किञ्चित एवं ऐन्द्रिय ज्ञान रहता है, पर अतीत अनागत वर्तमान प्रत्येक समुच्चय अतीन्द्रिय अल्प बहु आदि जो ये सर्वज्ञता के बीज हैं, वे ईश्वर में निहित हैं, अतः ईश्वर सर्वज्ञ है। ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है। तत् तत् कल्प में होने वाले ब्रह्मा आदि के बारे में भी वे गुरु हैं।[2]

सृष्टि निर्माण में ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं है क्योंकि वे आप्त काय व सर्वैश्वर्यशाली है। अतः प्राणियों पर अनुग्रह ही एकमात्र प्रयोजन है। यही कारण है कि वे निर्माण चित्त में प्रतिष्ठित होकर नाना धर्मों के उपदेश से संसारी पुरुषों का कल्याण करते हैं।[3] क्योंकि प्रणव ईश्वर का वाचक है। उसका वाच्य जबकि ईश्वर है।[4] इस स्थिति में साधक चित्त को एकाग्र कर लेता है। इसके पश्चात् ईश्वर उसे समाधि का फल देकर

1. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्-पातञ्जलयोगदर्शन 1/25
2. सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात वही 1/26
3. आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय षष्टितन्त्र प्रोवाच। भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा पृ. 1। डॉ. किशोर दास गोस्वामी
4. तत्त्व वाचकः प्रणवः । यो. द. 1/27

अनुगृहीत करते हैं और समाधि का फल आत्म साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। अतः चित्त को एकाग्र करने के लिए स्वाध्याय अपेक्षित है।[1]

:: चित्र तत्त्व का निरुपण ::

योगदर्शन चित्त तत्त्व बुद्धितत्त्व के माध्यम से ही मोक्ष का निरूपण करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण, मन, मति, प्रज्ञा, संवित, मेघा, पूर्व बुद्धि स्मृति ये सभी चित्त के पर्यायवाची शब्द है। चित्त वृत्तियों का साक्षात्कार कर लेना ही चेतन का उपभोग है। वृत्तियों का यह प्रवाह सत्त्व पुरुष अन्यथा ख्याति पर्यन्त चलता है। इस तरह अनेक तरह के भोग पुरुष के सामने रखते हुए अन्त में, विवेक द्वारा प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान करना ही चित्त का मुख्य प्रयोजन है।

:: चित्त की वृत्तियाँ ::

चित्त के स्पन्दन में आन्तरिक वृत्तियाँ ही कारण हैं और वे वृत्तियाँ पाँच तरह की है।[2] १.प्रमाण २.विपर्यय ३. विकल्प ४. निद्रा और ५. स्मृति।

योगशास्त्र की परिभाषा में प्रत्यय को अर्थात् परिदृष्ट चित्त भाव या बोध समूह को ही वृत्ति कहा गया है।

१. प्रमाण :- इसमें यथाबोध जैसे- प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों का समावेश है।

२. विपर्यय :- अयथाभूत बोध अर्थात विपरीत ज्ञान का बोध होना जैसे सीपी में रजत ज्ञान, दरार में सर्पज्ञान। ये सभी विपर्यय वृत्ति के कार्य हैं।

३. विकल्प :- प्रमाण विपर्यय से अन्य अवस्तु विशयक बोध, वृत्ति में आरुढ़ पदार्थों की कोई सत्ता नहीं होती। जैसे- शश श्रृंग, बन्ध्या पुत्र स्वपुष्प। वस्तुतः काल परिणाम के अतिरिक्त अहोरात्र नामक कोई पदार्थ नहीं है। ये सभी व्यवहार चलाने के लिए कल्पित नाम है।

---

1. **स्वाध्याय योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते।**
   स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।
   भारतीयदर्शन और मुक्तिमीमांसा पृ. 117
2. **प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। पा.यो. द. 1/6**

४. **निद्रा** :- रुद्धावस्था का अस्फुट बोध जैसे मैं सुख से सोया। मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। इस अनुभव से अनुमान होता है कि निद्रा काल में भी सूक्ष्म रूप से चित्त वृत्ति प्रवाहित हुई थी तब अज्ञान उसका आलम्बन था।

५. **स्मृत्ति** :- अनुभूत भाव का पुनः अनुभव है। यदि पूर्व काल में किन्हीं पदार्थों क अनुभव हो, तभी उनकी स्मृति भी बनती है। ये ५ वृत्तियाँ समय पर उत्पन्न होकर चित्त को विक्षिप्त करती रहती हैं। अतः चित्त की स्थिरता के लिए इन वृत्तियों का निरोध आवश्यक है।

चित्त वृत्तियों का प्रवाह- इन चित्तवृत्तियों का प्रवाह उस नदी की धारा के समान है, जो पुण्य-पाप रूपी दो धाराओं में प्रवाहित होती है। संसार और मोक्ष की प्राप्ति भी दो विरोधी धारायें हैं। इनमें जो विवेक ख्याति के भार से लदी हुई हैं, कैवल्य की ओर ले जाती है। वह मोक्ष के लिए हैं और जब विवेक ख्याति जैसे उन्मत स्थान से गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित होती हैं, तो जीव को संसार में पटक देती है। पुण्यात्मा व्यक्ति सांसारिक मोह माया में आसक्त न होकर अपने पुण्य कार्य में लगे होते हैं, वे इस संसार के समस्त त्रिगुणात्मक पदार्थों को ही दुःखमय मानते हैं।

भोगों का अभ्यास सुख मोक्ष की प्राप्ति का उपाय नहीं है। वस्तुतः विषय भोगों के अभ्यास से विषय तृष्णा शान्त नहीं होती। जिन पदार्थों से सुख का अनुभव किया हो, उनके पुनः न मिलने पर होने वाली अशान्ति ही दुख है। परन्तु ऐसे लोगों की वही स्थिति होती है जैसे कोई व्यक्ति विच्छू से डस जाने के पश्चात पुनः सर्प से डसवाकर अपनी

1.स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण द्रष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महद्दुःखपंके निमग्न इति। भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा पृ. 120

पीड़ा शान्त करना चाहता है। ऐसा सुखार्थी तो और भी दुःखसागर में निमग्न हो जाएगा। इस तरह दुखोत्पादक कर्मों और वासना संस्कारों का प्रवाह अनन्त काल तक चलता रहता है और मनुष्य निरन्तर महा गम्भीर दुःख-सागर में डूबता जाता है। अतः कैवल्य चाहने वाले मानव के लिए विषयों का परित्याग आवश्यक है।[१]

पाँच तरह के क्लेश :- जिन वृत्तियों के मूल में अविद्यादि पाँच क्लेश रहते है[२] वे क्लेश मूलिका हैं। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश। इनमें किसी भी एक क्लेश, जिस वृत्ति का हेतु, वही क्लिष्ट वृत्ति कही जा सकती है। क्योंकि ऐसी वृत्ति से जो संस्कार संचित होता है, वह विपाक को प्राप्त होकर फिर क्लेशमयी वृत्ति पैदा करता है। दुःख देने के कारण ये क्लेश कहे जाते हैं। उन क्लेशों के नाम- *'मैं शरीर हूँ'* इसका विलष्ट संस्कार है और मैं शरीर नहीं हूँ, इसका संस्कार अविलष्ट या विद्यामूलक संस्कार है। इसी का दूसरा नाम प्रज्ञा संस्कार है। 'मैं शरीर नहीं हूं' ऐसे समाधिलभ्य-ज्ञान का हेतु समाधि है। क्लेश की क्षीणता उस ज्ञान की सहायिका है। समाधि और क्लेश-क्षय का हेतु क्रिया योग हे। अर्थात् तपस्या से शरीर इन्द्रियों की स्थिरता, स्वाध्याय से साक्षात्कार करने के लिए उत्सुकता एवं ईश्वर प्रणिधाम द्वारा चित्त स्थिरता साधित होने पर समाधिभावित होती है और प्रबल क्लेश क्षीण होता है। पञ्चविध क्लेश निम्न हैं-

१. <u>अविद्या</u> :-

अनित्य को नित्य मानाना, अपवित्र को पवित्र, दुःखों को सुख एवं अमात्मा को आत्मा मानना यही अविद्या होती है।

---

1. मुक्तिमिच्छतीति चेत्। विषयान् विषयवत्त्यज। क्षमार्जवदयातोष सत्यं पीयूषवत् त्यज। भारतीय दर्शन एवं मुक्ति मीमांसा पृ0 120।
2. अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिधेशाः पञ्च क्लेशाः योगदर्शन 2/3।

यह अवद्यिा चतुष्टपाद होती है। यह क्लेश प्रवाह और कर्मशायकी जड़ है। घृणास्पद् सौन्दर्य का सामना करना ही अविद्या है। यह अविद्या वेदान्तियों के समान अनादिकाल से भाव रूपा है[1]।

२. अस्मिता :-

द्रष्टा पुरुष निर्मल स्वाध्याय विशुद्धिकार, चेतन एवं देदीप्यमान मणि के समान है। जैसे यदि फौलाद की छड़ लेकर हीरे को घिसा जाए तो उस पर चिन्ह नहीं पड़ता। ऐसा भेद होने पर भी अज्ञान और मोहपूर्वक बुद्धि में ही आत्मविषयक धारणा करना, अस्मिता-अहन्ता अतात्विक अहङ्कार।

३. राग :-

पहले किन्हीं पदार्थों से सुख का अनुभव था, बाद में भोक्ता उन्हीं पदार्थों को बुद्धि में आरोपित करता है तो उसमें सुख मिलता है और उस सुख का द्रष्टा सुखाभिज्ञ कहा जाता है। ऐसा सुखाभिज्ञ मानव सुखों का स्मरण करता हुआ सुख के साधनों की आकांक्षा रखता है। तृष्णा रखता है। तथा पुनः-पुनः उन सुख कारक पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, यही राग है।

४. द्वेष :-

किसी वस्तु, सर्प विष शास्त्र, कांटा आदि से सुख का अनुभव हुआ और यह जान लिया कि इनसे दुःख मिलता है। फिर उस दुःख का स्मरण करते हुए दुःखों के प्रति जो मानसिक क्षोभ अन्य प्राणियों को बाधा पहुँचाना या उन्हें मारने की प्रवृत्ति होना वही द्वेष है। इससे अन्तःकरण कलुषित होता है।

---

1. अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
   तद्ज्ञानमिति प्रज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते।।

यह अवद्यिा चतुष्टपाद होती है। यह क्लेश प्रवाह और कर्मशायकी जड़ है। घृणास्पद् सौन्दर्य का सामना करना ही अविद्या है। यह अविद्या वेदान्तियों के समान अनादिकाल से भाव रूपा है[1]।

२. अस्मिता :-

द्रष्टा पुरुष निर्मल स्वाध्याय विशुद्धिकार, चेतन एवं देदीप्यमान मणि के समान है। जैसे यदि फौलाद की छड़ लेकर हीरे को घिसा जाए तो उस पर चिन्ह नहीं पड़ता। ऐसा भेद होने पर भी अज्ञान और मोहपूर्वक बुद्धि में ही आत्मविषयक धारणा करना, अस्मिता-अहन्ता अतात्विक अहङ्कार।

३. राग :-

पहले किन्हीं पदार्थों से सुख का अनुभव था, बाद में भोक्ता उन्हीं पदार्थों को बुद्धि में आरोपित करता है तो उसमें सुख मिलता है और उस सुख का द्रष्टा सुखाभिज्ञ कहा जाता है। ऐसा सुखाभिज्ञ मानव सुखों का स्मरण करता हुआ सुख के साधनों की आकांक्षा रखता है। तृष्णा रखता है। तथा पुनः-पुनः उन सुख कारक पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, यही राग है।

४. द्वेष :-

किसी वस्तु, सर्प विष शास्त्र, कांटा आदि से सुख का अनुभव हुआ और यह जान लिया कि इनसे दुःख मिलता है। फिर उस दुःख का स्मरण करते हुए दुःखों के प्रति जो मानसिक क्षोभ अन्य प्राणियों को बाधा पहुँचाना या उन्हें मारने की प्रवृत्ति होना वही द्वेष है। इससे अन्तःकरण कलुषित होता है।

---

1. अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
   तदज्ञानमिति प्रज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते।।

५. अभिनिवेश :-

संसार के सभी चेतन प्राणी अपने जीवन संरक्षण में ही अपना हित मानते हैं। मैं सदा बना रहूँ, मेरे शरीर का कभी अन्त न हो, प्राणियों में ऐसी जीवेषणा जीवन के अन्तिम क्षणों तक पाई जाती है। क्योंकि प्राणियों ने पुनः-पुनः उत्पन्न होकर बार-बार मृत्यु दुःख का अनुभव किया है।

बालक का मुख कुछ क्षणों के लिए पीला पड़ जाता है। अतः नवजात प्राणियों में मृत्यु भय होने वाला दुःख पूर्वानुभूत दुःख के स्मरण से ही होता है। चूंकि पूर्वानुभव के बिना स्मृति बन नहीं सकती। इसलिए निश्चित रूप से इसे जन्म-जन्मान्तर का अनुभव ही कहा जा सकता है।अपने सञ्चित संस्कारों से उतपन्न होने वाले अभिनिवेश रूप क्लेश से बारम्बार भयभीत होता है। इस भय से अभय होना चाहिये। अतः कैवल्य प्राप्ति के लिए इन पाँच क्लेशों का निराकरण योगशास्त्र की दृष्टि से परमावश्यक है।

योग में होने वाले विघ्न :-

चित्त को विक्षिप्त करने वाले विघ्नों की वजह से ही मन में प्रतिक्षण विक्षेप होता है। अतः इन विघ्नों का नाश होने से ही चित्त स्थिर हो सकता है। ये अन्तराय नौ तरह के हैं-

१.व्याधि- धातु की विषमता, रस की विषमता, और कारण की विषमता से होने वाले रोग।

२.स्त्यान- चित्त की कार्य करने में असमर्थता। इसमें समाधिका अभ्यास नहीं हो पाता।

३.संशय- एक ही धर्मों में उभयकोटि विषयक ज्ञान, ऐसा होगा या नहीं।

४.प्रमाद- समाधि के साधनों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त न होना।

५. आलस्य- शरीर और चित्त के भारी होने से समाधि में अप्रवृत्ति।
६. अविरति- विषय के साथ सम्पर्क होने से समाधि में अप्रवृत्ति।
७. भ्रान्ति दर्शन- किसी वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान।
८. अलब्ध भूमिकत्व- प्रतिबन्धक के कारण मधुमती आदि भ्रन्तियों का लाभ न होगा।
९. अनवस्थितत्व- निरन्तर चित्त की स्थिति का अभाव।

महर्षि पतञ्जलि ने उत्तम साधनों के चित्त वृत्ति निरोध के लिए 'अभ्यास-वैराग्य' उपाय निर्दिष्ट किया है। वर्तमान जीवन में योग साधनारत वानप्रस्थियों को मध्यम साधक कहा जाता है। क्रियायोग से इनकी योग साधना का श्रीगणेश होता है। वे कृपा पात्र हैं, जिनमें आत्मबोध की जागृति नहीं हुई है।

अभ्यास और वैराग्य :-

जीवन के किसी भी क्षेत्र में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए अभ्यास एवं वैराग्य दोनों की आवश्यकता पड़ती है। वैराग्य पूर्वक ही अभ्यास किया जाता है। अभ्यास के स्तर एवं उसकी गति के अनुसार वैराग्य होता है। अतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

कैवल्य के लिए योग की आवश्यकता, योग के लिए अभ्यास की आवश्यकता और अभ्यास के लिए वैराग्य की अपेक्षा है। अतः सभी एक दूसरे से श्रृंखलाबद्ध हैं। यत्न विशेष को अभ्यास कहा जाता है[1]।

आचार्य व्यासदेव के अनुसार यत्न शब्द का अर्थ उत्साह एवं वीर्य होता है[2]। अभ्यास पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य नारायण तीर्थ लिखते हैं- उत्साह, साहस एवं धैर्य के साथ अध्यात्म विद्या का अध्ययन, यम आदि का पालन करना अभ्यास है। बाहरी विषयों की ओर स्वभावतः दौड़ने वाले चित्त पर सर्वदा निमन्त्रण रखूँगा।

---

1. यत्नोऽभ्यासः योगसूत्र 1/13
2. प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः- व्यासभाष्य पृ0 46

इस तरह का उद्यम उत्साह है[1]। साध्य-असाध्य पर विचार किए बिना ही तत्काल कार्य में प्रवृत्त होना 'साहस' है। इस जन्म में अथवा आगामी जन्म में मेरा प्रयत्न सफल हो ही जायेगा, श्रद्धेय सद्गुरु तथा सन्यासिओं की सेवा, शुश्रूषा करना महत्सेवा है। इस तरह का अभ्यास थोड़े समय तक रुक-रुक कर अनिच्छा के साथ करने में फलवान् नहीं होता है। वही अभ्यास मुमुक्षु के लिए आचरणीय है, जो जन्मजन्मान्तर पर्यन्त अविरल गति से उत्साह के साथ किया जाता है[२]।

राग का विरोधी विराग है और विराग का भाव वैराग्य है। राग किसी विषय के प्रति किया जाता है। इसलिए इसके विरोधी वैराग्य का आधार भी विषय होता है। विषय दो तरह का होता है- १. ऐहिक विषय, २. पारलौकिक विषय। ये ही क्रमशः द्रष्ट हैं, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष होता है। वेद प्रतिपादित स्वर्गादि आनुश्रविक विषय हैं। मुमुक्षु के लिए दोनों तरह के विषय त्याज्य अर्थात् वैराग्य के योग्य हैं। शान्ति पर्व में कहा गया है कि सुख त्याग तप है और सर्व त्याग रूप निःशेष त्याग ही योग है[३]। विद्या ही ज्ञान है। तपस्यादि पूर्वक अभ्यास करते रहने पर यह अभ्यास सत्कार पूर्वक ही किया जा रहा है यह सुनिश्चित होता है। इस तरह अभ्यास करते रहने से यह दृढ़ तथा अपराजेय होता है। श्रुति भी कहती है कि जो युक्ति युक्त ज्ञान से श्रद्धा तथा सार युक्त शास्त्र ज्ञान के साथ किया जाता है वही अधिकतर वीर्यवान् होता है[४]।

---

1. उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याऽध्ययन महत्सेवन यमनियमासनाधनुष्ठान लक्षणोऽभ्यासः। योग सिद्धान्त चन्द्रिका पृ0 16
2. सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः। योग सूत्र 1/14।
3. सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापनम्-शान्ति पर्व 219/18।
4. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्भवति ।
छा0 उप0 1/1/10

अभ्यास और वैराग्य, विक्षिप्त चित्त को स्थिर करने के विशेष उपाय हैं। जैसा कि गीता में भी प्रतिपादित है- अभ्यासेन तु कौन्तेय। वैराग्येण च गृह्यते। चित्त अभ्यास और वैराग्य से ही निरुद्ध किया जा सकता है। श्रद्धा, उत्साह, तत्त्व की स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि साधनों का अनुष्ठान ही अभ्यास है[1]। जो एक बार आरम्भ करके आत्म तत्त्व विषयक अभ्यास को नहीं छोड़ते हैं वे संसार रूपी विशाल नदी को पार कर जाते हैं। अभ्यास की कुशलता के द्वारा ही साधक उत्तरोतर भूमियों के अधिकारी होते हैं। जिसमें सांसारिक वृत्तियाँ सर्वथा अवरुद्ध हो जाती हैं। अतः अभ्यास की परिपक्वता हेतु दीर्घकाल की अपेक्षा होती है[2]।

राग और वैराग्य दोनों ही बुद्धि के धर्म होते हैं।राग, विषयों में प्रवृत्त करता है, वैराग्य उनसे निवृत्ति दिलाता है। ज्ञान के बिना निवृत्ति असम्भव होती है। अतः वैराग्य ज्ञान की चरमावस्था है। मैत्री करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा भाव में चित्त रूपी मल के प्रक्षालन की शक्ति होती है। मन पर विजय प्राप्त करने लिए एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य किया जाता है। सत्वादि गुणों के प्रति होने वाला व्यापार वैराग्य होता है।

क्रियायोग :- मध्यम अधिकारियों के लिए वृत्ति निरोध का उपाय क्रियायोग होता है। इससे चित्त को एकाग्र किया जाता है। तीन क्रियाओं की समष्टि का नाम क्रिया योग है। तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्राणिधान ये तीन प्रमुख होते हैं। इस योग के दो प्रयोजन होते हैं, पहला चित्त को समाधि की ओर उत्युक्त करता है दूसरा उदार अवस्था के क्लेशों की शक्ति

---

1. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञादीनां साधनानुष्ठानमभ्यासः यो.वा. 1/13
2. एवं समभ्यस्य सुदीर्घकालं यमादिभिर्युक्ततरं मिताशि।
   आत्मानमासाद्य गुहां प्रविष्टां मुक्तिं व्रज ब्रह्मपुरे पुनस्त्वम्।।

क्षीण करता है। इस तरह क्रियायोग पर विजय प्राप्त करके मध्यम साधक अपने में उत्तम साधक की विशिष्टता लाता है। इसके बाद अभ्यास वैराग्य की साधना प्रारम्भ करता है।

अष्टाङ्गयोग :- कैवल्य के विषय में गुरुमुख से श्रुतशास्त्र तथा अनुमानादि प्रमाणों से प्राप्त उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि आप्त होने से वे सद्वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं। यदि चित्त वासना संस्कार और विक्षेप वृत्तियों से कुलषित हो तो सत्त्व चिन्तन की ओर उन्मुख नहीं होगा। अतः चित्त को निर्मल करने के लिए योगदर्शन में आठ अंगों का निरुपण किया गया है। वे आठ हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।[१]

१- यम :- यह पंचविध होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रहमचर्य तथा अपरिग्रह। अहिंसा में मन, वचन तथा कर्म (शरीर) से प्राणियों से किसी भी दशा में द्रोह न करना। इससे मानसिक क्लेश शान्त होते हैं। सत्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निश्चित अर्थ का मन और वाणी से उसी रूप में प्रतिपादक करता है। अतः सत्य वक्ता पुरुष ईश्वर तुल्य होता है। हजार अश्वमेघ यज्ञों से सत्य की तुलना शास्त्रों में की गई। अश्वमेघसहस्रं च सत्यं च तुलयाधृतमा अस्तेय अधर्म से या शास्त्रनिषिद्धवृत्ति से प्राप्त होने वाले धन का परित्याग होता है। इससे साधक तृष्णाहीन हो जाता है। ब्रह्मचर्य में एकादश इन्द्रियों का प्रयत्नपूर्वक संयम अर्थात्

---

1. यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
योगदर्शन 2/29

गुप्तेन्द्रिय होकर उपस्थ का संयम। देवताओं ने ब्रह्मचर्य के द्वारा मृत्यु तक को जीत लिया था। ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इसी तरह अपरिग्रह में विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा इन पाँच तरह के दोषों को देखकर विषयों को ग्रहण न करना अपरिग्रह होता है।

नियम :- नियम भी पाँच तरह के होते हैं- शौच, संतोष, तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

आसन :- आस्यतेऽनेनेति आसनम् स्थिर सुख देने वाले बैठने के जो प्रकार हैं उन्हें आसन कहा जाता है। स्थिरसुखमासनम् (योगसूत्र २/४६) साधक को ऐसा आसन ग्रहण करना चाहिए जिससे शरीर को सुख मिले। कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि अनेक उपयोगी आसनों का वर्णन 'हठयोग प्रदीपिका' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है। चित्त की स्थिरता के लिए योग में चौरासी आसनों का विधान है जो साक्षात् मोक्ष का द्वार खोलने वाले हैं।

प्राणायाम :- आसन सिद्ध होने पर प्राणायाम चित्त निरोध का मुख्य साधन है। श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम है। वही क्रमिक उन्नति करता हुआ प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि शब्दों में कहा जाता है। यदि वायु चलनशील है तो चित्त भी चंचल होता है।

पंतजलि ने चार तरह के प्राणायामों का निर्देश किया है-

(क) बाह्य (रेचक) कोष्ठ वायु को बाहर निकालकर बाहर ही रोक देना रेचक प्राणायाम है।

(ख) आभ्यन्तर (पूरक) नासारन्ध्र से बाहरी वायु को ग्रहण कर उसे भीतर रोक देना पूरक होता है।

(ग) स्तम्भ वृत्ति (कुम्भक) एक ही प्रयत्न से वहाँ श्वास-प्रश्वास की गति रोकने से कुम्भक होता है।

(घ) प्राणयाम (कुम्भक) मात्र के अभ्यास से विवेक ज्ञान को आवृत करने वाले कर्मों या दोषों का नाश हो जाता है।

प्रत्याहार :- विभिन्न इन्द्रियाँ अपने बाह्य विषयों से हटकर चित्त के समान निरुद्ध हो सकती हैं तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। जहाँ इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से हटकर एकाग्र हो वहीं प्रत्याहार होता है।

धारणा :- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। जब बहिरंग साधनों से चित्त संस्कृत हो जाता है तो उसे किसी स्थान विशेष में निर्गुण सगुण परमात्मा में नियुक्त करना ही धारणा है। जहाँ-जहाँ मन जाए वहाँ-वहाँ ब्रह्म के दर्शन हो तो वह धारणा परिपक्व समझनी चाहिए। किसी देवता की मूर्ति में चित्त को लगाना ही धारणा है।

धरणा पाँच तरह की होती है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पाँच भूतों में पाँच देवों की धारणा करने से ही पाँच भेद होते हैं। १. प्राणायाम आदि में धारणा का अभ्यास आवश्यक होता है।

ध्यान :- तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगसूत्र ३/२१) उस देश विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रुप से प्रवाहित होता है और उसे दबाने के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता तब उसे 'ध्यान' कहा जता है। 'मैं वही आत्मा हूँ' ऐसा सोचना सगुण ध्यान है। तप ही जिनका धन है, ऐसे लोगों के लिए यही मोक्ष का मार्ग है।[1] इस तरह मोक्ष मार्ग में चित्त वृत्ति परम तत्त्व का चिन्तन करती हुई विच्छिन्न होकर प्रवाहित होती है।

---

1. सोऽहमात्मेति विज्ञानं सगुणं ध्यानमुच्यते।
   एष एव तु मोक्षस्य महामार्गस्पतोधने।।
   भारतीय दर्शन एवं मुक्ति मीमांसा पृ. 129

साधक यदि ६ महीने तक सेवन करता है तो मृत्यु को जीत लेता है। यदि वर्ष भर करता है तो जीवन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[1]

समाधि :- समाधि शब्द का व्युत्पत्ति लक्ष्य अर्थ है- विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना। सम्यगधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः। जहाँ ध्यान, ध्येय वस्तु के आवेश से मानो अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है। समाधि की अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय पदार्थ की एकता सही हो जाती है। कुछ काल तक यह ब्राह्मी स्थिति है। यही योग प्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी है। समाधि से जब बुद्धि निश्चल हो जाती है तभी योग प्राप्ति होती है। इससे चित्त के अज्ञान मूलक संस्कार नष्ट हो जाते हैं। व्यक्ति स्वयं का दर्शन करने लगता है और ब्रह्म बन जाता है।

प्रत्येक साधक को क्रिया योग तथा समाधि योग का अभ्यास करने का इष्ट सिद्धि होती है। क्रिया योगसे ही तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान आदि सम्भव है। क्रिया योग का अभ्यास फल दो तरह का होता है। १. क्लेश तनूकरण २. समाधि भावना।

कैवल्य एक ऐसी अवस्था है जिसमें निश्चित रूप से पूरी तरह से दुःख नाश का सामर्थ्य है। मोक्ष तथा मुक्ति इसके पर्याय हैं। योग के अनुसार पुरुषार्थ शून्य गुणों का प्रति प्रसव अपने कारण में लय तथा पुरुष का स्वरुपावस्थान मोक्ष होता है। तात्पर्य यह है कि पुरुष के स्वरूपमें अवस्थित हो जाने पर उससे सम्बन्धित बुद्धि (प्रकृति) भी मुक्त हो जाती है और पुरुष भी।

---

1. बिना देशादिबन्धेन वृत्तिर्याऽभिधीयते स्थिरा। ध्यानयोगो भवदेष चित्तचाञ्चल्यनाशकः।। एवं ध्यानामृतं कुर्वन् षण्मासान् मृत्युजिद् भवेत्। वत्सरान्मुक्त एव स्याज्जीवन्नेव न संशयः।। भा. द. मु.मी. पृ. 129

२. न्याय और वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप-

न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शन वस्तुवादी होने की वजह से परस्पर सम्बन्धित की है। उक्त दोनों दर्शनों का विकास क्रमशः हुआ कालान्तर में इनकी साम्यता के कारण दोनों का संयुक्त विकास हुआ। न्याय वैशेषिक के मूल ग्रन्थ न्याय सूत्र के रचयिता गौतम हैं तथा वैशेषिक सूत्र के रचयिता कणाद माने जाते हैं। इसके अलावा वात्स्यायन उद्योतकर की टीकायें भी न्याय दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। वैशेषिक सूत्र की शंकर मिश्र की व्याख्या उपस्कार विशिष्ट है। इसी तरह न्याय सूत्र की टीकाओं के रचयिता वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, जयन्त भट्ट गंगेशोपाध्याय तथा वैशेषिक सूत्र के टीकाकारों में प्रशस्तपाद, वल्लभाचार्य एवं विश्वनाथ आदि प्रमुख माने जाते हैं। उक्त दोनों दर्शन जीव, जगत् तथा ईश्वर इन तीन सत्यों को स्वीकार करते हैं। तर्क एवं न्याय के आधार पर ये दर्शन जीवन के प्रधान लक्ष्य के रूप में 'निःश्रेयस' को स्वीकारते हैं।

१. <u>न्यायदर्शन</u> :- *'प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः'* अर्थात् प्रमाणों के आधार पर वस्तु तत्त्व की परीक्षा करना न्याय कहा जाता है। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम एक महान् यर्थाथवादी तत्त्व चिन्तक हैं। इनके अनुसार आत्मज्ञान की प्राप्ति सन्देहों की मुक्ति हो जाने पर ही सम्भव हैं तथा सन्देह मुक्ति तर्कों से ही सम्भव है। न्याय दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा को सभी दुःखों से मुक्ति दिलाना है। अतः दुखों से मुक्ति दिलाना ही न्यायदर्शन में मोक्ष कहा जाता है। इस दर्शन की यह मान्यता है कि जब आत्मा का सम्बन्ध इन दुःखों के साथ नहीं होता तभी जीव मुक्त कहा जाता है।

न्यायदर्शन आत्मा के विषय में एक वस्तुवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। आत्मा वह द्रव्य है, जिसमें ज्ञान

सुख-दुःख, राग, द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि उनके रूप में पाये जाते हैं। ये गुण बाह्य जगत् के गुण नहीं होते है। बाह्य जड़द्रव्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय नहीं होते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार विभिन्न शरीरों में विभिन्न आत्मायें होती है। यह एक आत्मा को स्वीकारता है। इनकी स्पष्ट मान्यता है कि हम स्पष्ट रूप से जानते हैं कि कुछ आत्मायें बन्धन में हैं तथा कुछ मुक्त हैं। इनका तर्क भी है कि यदि संसार में एक ही आत्मा होता तो एक आत्मा के मुक्त होने के साथ ही सभी आत्मायें मुक्त हो जाती। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। विभिन्न शरीरों में आत्मा के विभिन्न स्वभाव भी परिलक्षित होते हैं जैसे कोई दुःखी है तो कोई सुखी है। अतः न्याय आत्मा की अनेकता को मानता हुआ यह अवश्य स्वीकार करता है कि यह एक नित्य, विभु और असीम सत्ता है।[1] अतः यह नहीं समझना चाहिए कि न्यायदर्शन शरीर या इन्द्रिय को ही आत्मा मानता है। शरीर को आत्मा इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें चेतना नहीं आ सकती। बाह्य इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है क्योंकि इनमें कल्पना, स्मृति, विचार आदि मानसिक व्यापार नहीं पाया जाता है। मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि वह अणु होने के कारण अप्रत्यक्ष है। न्यायदर्शन, बौद्ध दर्शन की भाँति आत्मा को चेतना का प्रवाह भी नहीं कहता। यह वेदान्त दर्शन के स्वयं प्रकाश के चेतन्य आत्मा को भी नहीं मानता है। यह आत्मा को द्रव्य तथा चैतन्य को उसका गुण मानता है। आत्मा में चेतना तभी आती है, जब इसका सम्पर्क मन के साथ और मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ होता है। अतः न्यायदर्शन में चेतन आत्मा की ही विशेष उपयोगिता है।

---

1. न्याय भाष्यम् - 1-1-10

न्यायदर्शन, बुद्ध आत्मा का कारण दुःख को मानता है। इनके अनुसार २ प्रकार के दुःख होते हैं। शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह प्रकार का ज्ञान तथा छह विषय तथा सुख एवं दुःख। आत्मा का शरीर के साथ सम्पर्क ही दुःख है। शरीर ही आत्मा को दुःखित एवं सीमित बनाकर रखता है। न्यायदर्शन दुःखों की पूर्ण निरोधावस्था को अपवर्ग की संज्ञा देता है। यही इस दर्शन की मोक्ष की अवधारणा है। अपवर्ग का अर्थ-आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त होना है।

न्याय वैशेषिकों के अनुसार हमारे बन्धन का कारण अविद्या एवं कर्म है। जिसके परिणाम स्वरूप नश्वर अनात्म पदार्थों को आत्म पदार्थ के रूप में देखता है। लौकिक संसार में अपनी विविध समस्याओं से जूझते हुए मनुष्य के लिए मोक्ष शब्द एक सुन्दर बहकावा है। न्याय वैशेषिक तो मोक्ष को एक पवित्र सङ्कल्प भी मानते हैं। इसका प्रत्यक्षीकरण का साक्षात्कार भी सम्भव मानते हैं। यह तभी समभव है, जब मनुष्य अपने तीन ऋणों (पितृ, देव, ऋषि) से मुक्त हो जाता है। क्लेशानुबन्ध भी मोक्ष मार्ग में अप्रत्याशित दोष है। दुःष्कर कांटे की भाँति है। प्रवृत्यनुबन्ध-धर्म अधर्म की प्रवृत्ति ही जन्म-मरण का कारण बनती है। मनुष्य उसके विरोधी गुणों पर निरन्तर ध्यान रखते हुए सांसारिक गुणों का त्याग कर दे तो मोक्ष प्राप्ति सम्भव है।

आपत्तियों के कारण जो मनुष्य बन्धन में पड़ता है, वह अपने दोषों को रोकर प्रवृत्तियों के चक्र को रोककर, मोक्ष प्राप्ति को पूरा करता है जैसे कोई तृष्णा मोह लिप्सा में बद्ध होता चला जाए तो उसे मोक्ष पाना कभी सम्भव नहीं होता। न्याय-मीमांसकों के अनुसार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष की परम सीमा है[1]।

---

1. आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति र्मोक्षः।

न्यायसूत्र १/१/२ का भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है तो उसके सभी दोष दूर हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप जीवन-मरण के चक्र के रूक जाने से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती हे इसी स्थिति को 'मोक्ष', 'अपवर्ग' और निःश्रेयस् कहा जाता है[1]।

तर्कदीपिका उसे सभी दुःखों का पूर्ण चरम विनाश कहती है[2]। न्यायवार्तिक ने उसे सभी दुःखों का आत्यन्तिक (शाश्वत) अभाव कहा है[3]। वैशेषिक सूत्र में महर्षि कणाद मोक्ष के विषय में कहते हैं कि सभी तरह के अदृष्ट कर्मों अदृष्ट कर्मों का अन्त हो जाने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप जीवन-मरण के चक्र का अन्त हो जाता है और अनन्तकाल तक के लिए सभी सुखों की प्राप्ति हो जाती है[4]। मोक्ष की अवस्था दुःख सुख से परे होती है। 'तर्क भाषा' में २१ प्रकार की चर्चा की गई है औा दुःख के चरम ध्वंस को ही मोक्ष कहा गया है।

संक्षिप्त रूप में मोक्ष के लिए सभी तरह के सुख-दुःखात्मक परिस्थितियों का विनाश आवश्यक है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा आनन्द का अनुभव करती है। यह आनन्द आत्मा ही वास्तविक स्वरूप है, जो अप्रकट या निवृत्ति के पश्चात् प्रकट हुआ है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार बुद्धिमान मनुष्य को सभी सांसारिक सुखों का परित्याग कर देना चाहिए। उसी तरह से जिस तरह बुद्धिमान् मनुष्य मधु और विष दोनों से मिश्रित भोजन का त्याग बन्द कर देता है। परन्तु वेदान्ती कहते हैं कि मोक्ष शाश्वत सुख की अवस्था है तो मनुष्य स्वभावतः ऐसे सुख की प्राप्ति की इच्छा सदैव करेगा। जब तक मानव अपनी वाञ्छित अवाञ्छित यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्ति की चरम इच्छा का भी

---

1. वात्स्यायन भाष्य 1/1/2।   2. मोक्षः चरमदुःख ध्वंसः।
3. मोक्षः आत्यन्तिको दुखा भावः।
4. तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुभावश्च मोक्षः। वैशेषिक सूत्र 5/2/18।

विलीनीकरण कर देता है, यही न्याय दर्शन में आनन्द की अवस्था है। शंकराचार्य जी के मत में भी आनन्द ही मोक्ष कहा जाता है। प्रोफेसर ओझा की एक टिप्पणी भी इस सन्दर्भ में विशेषतया उल्लेखनीय हैं- मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा बिल्कुल शान्त व निर्विकार हो जाता है। फलतः चैतन्य तथा ज्ञान भी तिरोहित हो जाता है क्योंकि आत्मा के समस्त धर्म शरीर सापेक्ष होते हैं जब मन इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते हैं और आत्मा की यह स्थिति प्रगाढ़ सुप्तावस्था की तरह जड़ पाषाणवत् संज्ञा शून्य हो जाती है। इनके अनुसार मोक्ष वह अवस्था हो जाती है जैसे कि इन्धन समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है। उसी तरह प्रवृत्ति दोष के निर्जीव हो जाने पर आत्मा शरीर आदि के बन्धन से मुक्त होकर शान्त हो जाती है और वह अपने शुद्ध सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। एक ही शब्द में यह कहना न्याय मीमांसकों के लिए न्याय संगत है कि उनका मोक्ष संयोग नहीं बल्कि विच्छेद है। आत्मा के साथ एक वस्तु शेष बचती है उसका नाम है मन। आत्मा के नव गुण होते हैं- १. बुद्धि २. संकल्प ३. इच्छा ४. दुःख ५. सुख ६. द्वेष ७. पुण्य ८. पाप तथा ९. पुनर्भव के संस्कार।

इन सभी का मोक्ष की अवस्था में आत्मा से विच्छेद हो जाता है। न्याय वैशेषिक की यह भी मान्यता है कि सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् आत्मा को कुछ समय तक स्थूल शरीर में रहना पड़ता है ताकि प्रारब्ध कर्मों को भोग कर समाप्त किया जा सके। प्रारब्ध कर्मों का फल यौगिक शक्तियों से अथवा कई जन्मों के उपरान्त भी समाप्त किया जा सकता है। पूर्व कर्म, जो कि संचित हैं उन्हें सत्कर्मों द्वारा धीरे-धीरे समाप्त किया जा सकता है।

इस तरह ईश्वर का मनन, चिन्तन, उपासना तथा यज्ञ आदि करने से जो पुण्य उत्पन्न होता है वह मुक्ति में कारण बनता है। ऐसी श्रुतियों की भी मान्यता है। अद्वैत वेदान्ती मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधनों का निर्देश करते हैं। श्रीधर स्वामी का मत है कि चरम तत्त्व का सम्यग् ज्ञान और धर्मों का पालन दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य है। इसके विपरीत न्याय वैशेषिक का मत है कि तत्त्व ज्ञान, जो क्रमशः महर्षि कणाद और गौतम द्वारा प्रतिपादित किया गया तथा ज्ञान मीमांसा और तत्त्व मीमांसा के पदार्थों का सम्यग् ज्ञान भी निर्दिष्ट किया गया उसकी प्राप्ति के पश्चात् भी मोक्ष प्राप्त करने में कुछ समय लगता है। जिसका सोपान इस तरह है-

१. प्रथमतः तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के परिणामस्वरूप मिथ्या का नाश होना।
२. मिथ्या ज्ञान के नष्ट हो जाने पर दोषों का दूर होना।
३. दोषों के दूर हो जाने पर कर्म अर्थात् पाप-पुण्यों का दूर हो जाना।
४. कर्म शेष न रहने पर पुनर्जन्म न होना। पुनर्जन्म के रुकने से दुखों का विनाश इस तरह हो जाता है।

इसी के परिणाम स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसे न्याय दर्शन में सर्वोच्च शुभ निःश्रेयस चरम उत्तम आदि नाम से अभिहित किया गया है।

सम्यक् ज्ञान मोक्ष की ओर ले जाता है। ऐसा जैन एवं बौद्ध दर्शन में भी पाया है। जैसे कि धर्म कीर्ति ने न्यायबिन्दु (बौद्ध ग्रन्थ) में कहा है- सम्यग् ज्ञान पूर्वक ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।[1]

इसी तरह जैन दर्शन भी सम्यक् ज्ञान को प्रमाण मानता है। न्यायदर्शन में यही सम्यग् ज्ञान ही मोक्ष है परम तत्त्व का सम्यग् ज्ञान मोक्ष हैं। इसी के साथ धर्मों का पालन भी मोक्ष के लिए आवश्यक है। न्याय वैशेषिक के अनुसार सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के

---

1. सम्यग् ज्ञानपूर्विका पुरुषार्थ सिद्धिरिह तद् व्युत्पाद्यते । न्यायबिन्दु-1

पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मिथ्या ज्ञान के कारण आत्मा में राग-द्वेष व मोह उत्पन्न होते हैं जिससे मनुष्य वास्तविक तत्त्व को अपने से भिन्न समझने लगता है जब कि हमें ज्ञात है कि सुख-दुःख की अनुभूति करना आत्मा का स्वाभाविक गुण नही है। वह तो ऐसी सत्ता है जो वास्तविकता को पहचान लेने पर भी स्वयं को नहीं जानता है। वह अपने को उसी निःश्रेयस परम शक्ति में लीन कर लेता है। तब वह दुःख से परे हो जाता है और वह ऊर्ध्व गमन को प्राप्त कर लेता है।[१] इस तरह मिथ्या ज्ञान, जो अनात्मा को आत्मा, दुःख को सुख, और अनित्य वस्तुओं को नित्य समझने लगता है। सम्यग् ज्ञान को प्राप्त होने पर वह उपर्युक्त सभी दोषों से दूर हो जाता है और पुनर्जन्म भी समाप्त हो जाता है। इस तरह दुःखों के अन्त हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। न्याय वैशेषिक मानव बन्धन की संतोष जनक व्याख्या करने में असमर्थ हैं आत्मा बन्धन में कैसे पड़ा इसका कोई युक्ति संगत विचार वे प्रस्तुत नहीं करते हैं। इसीलिए नैयायिक मुक्ति सिद्धान्त, अन्य दर्शनों के लिए विवादास्पद बन गया। मुक्तावस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द को मोक्ष मानने वाले वेदान्ती श्रीहर्ष ने 'नैषधीय चरितम्' महाकाव्य में नैयायिकों की खूब खिल्ली उड़ाई है। उनका कथन है कि जिस सूत्रकार ने जागरुक पुरुषों के लिए अज्ञान, सुख आदि से मुक्त शिला कूप प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है उसका गौतम अभिधानतः शब्दतः यर्थाथ नहीं, अपितु अर्थतः है। यह केवल गौ (बैल) न होकर गौतम अतिश्येन गौः अर्थात् पक्का बैल है।[२]

---

1. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामात्मुत्रोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
   न्यायसूत्र 1/31
2. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
   गौतम तमवेक्ष्येव यथा वित्थुस्तथैव सः।। नैषधीय 16/65

नैयायिक के अनुसार आत्मा अचेतन है। आत्मा में चेत का संचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा ाभी होता है, जब आत्मा का सम्पर्क मन, इन्द्रियों से होता है। न्य का विचार सांख्य के आत्म विचार से भी विरोध रखता है। न्याय ने त्मा को विभु एवं काल तथा दिक् के द्वारा सीमित नहीं किया है। ः ाका अनुभव केवल शरीर में होता है। शंकर आत्मा को जब कि ए ही मानते हैं परन्तु यह दर्शन अनेक मानता है यही दोनों का घोर विरोध है। न्यायदर्शन में केवल विदेह मुक्ति को ही प्रामाणिकता प्राप्त हुई है। शंकर ने न्याय के मोक्ष सम्बन्धी विचार की आलोचना यह कहकर की है कि यहाँ आत्मा पत्थर के समान हो जाती है। मोक्ष का आदर्श उत्साह बर्धक नहीं होता है चार्वाक ने कहा कि पत्थर की तरह जड़ बन जाने की अभिलाषा गौतम जैसे आले दर्जे मूर्ख ही कर सकता है। कुछ आलोचक न्याय दर्शन के मोक्ष को एक अर्थहीन शब्द कहते हैं। वैष्णव विचारक न्याय के मोक्ष विचार की अलोचना करते हुए कहते हैं कि न्याय दर्शन में जिस तरह की मुक्ति कल्पना की गई है उसे प्राप्त करने से अच्छा तो यह है कि हम सियार बनकर वृन्दावन के सुन्दर जंगलों में विचरण करें।[1] प्रभाकर के मोक्ष सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष, धर्म और अधर्म के अदृश्य होने के परिणाम स्वरूप शरीरका पूर्णरूप से निरोध (अवरोध) हो जाना है।[2]

अतः आत्मा सभी तरह से मुक्त होकर केवल सत्ता में रहती है। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में जैसा कहा है कि ऐसे साधक, जिन्होंने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

---

1. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणीम्यहम्।
   वैशेषिकोक्तमोक्षात् सुखलेशविवर्जनात्।। सर्वदर्शन संग्रह पृ. 28
2. जी.एन.झा. दि प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा पृ. 84

नैयायिक के अनुसार आत्मा अचेतन है। आत्मा में चेतना का संचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा में तभी होता है, जब आत्मा का सम्पर्क मन, इन्द्रियों से होता है। न्याय का विचार सांख्य के आत्म विचार से भी विरोध रखता है। न्याय ने आत्मा को विभु एवं काल तथा दिक् के द्वारा सीमित नहीं किया है। इसका अनुभव केवल शरीर में होता है। शंकर आत्मा को जब कि एक ही मानते हैं परन्तु यह दर्शन अनेक मानता है यही दोनों का घोर विरोध है। न्यायदर्शन में केवल विदेह मुक्ति को ही प्रामाणिकता प्राप्त हुई है। शंकर ने न्याय के मोक्ष सम्बन्धी विचार की आलोचना यह कहकर की है कि यहाँ आत्मा पत्थर के समान हो जाती है। मोक्ष का आदर्श उत्साह बर्धक नहीं होता है चार्वाक ने कहा कि पत्थर की तरह जड़ बन जाने की अभिलाषा गौतम जैसे आले दर्जे मूर्ख ही कर सकता है। कुछ आलोचक न्याय दर्शन के मोक्ष को एक अर्थहीन शब्द कहते हैं। वैष्णव विचारक न्याय के मोक्ष विचार की अलोचना करते हुए कहते हैं कि न्याय दर्शन में जिस तरह की मुक्ति कल्पना की गई है उसे प्राप्त करने से अच्छा तो यह है कि हम सियार बनकर वृन्दावन के सुन्दर जंगलों में विचरण करें।[१] प्रभाकर के मोक्ष सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष, धर्म और अधर्म के अदृश्य होने के परिणाम स्वरूप शरीरका पूर्णरूप से निरोध (अवरोध) हो जाना है।[२]

अतः आत्मा सभी तरह से मुक्त होकर केवल सत्ता में रहती है। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में जैसा कहा है कि ऐसे साधक, जिन्होंने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

---

1. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणीम्यहम्।
   वैशेषिकोक्तमोक्षात् सुखलेशविवर्जनात्।। सर्वदर्शन संग्रह पृ. 28
2. जी.एन.झा. दि प्रभाकर स्कूल ऑफ पूर्व मीमांसा पृ. 84

उनके भूतकाल के सभी कर्म योग से समाप्त हो जाते हैं और अविशष्ट कभी नहीं बचते। अतः उन्हें शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। अतः मोक्ष के साधक को कोई निषिद्ध या काम्य कर्म नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके फलों को भोगने के लिए फिर शरीर धारण करना पड़ेगा। परन्तु बाध्यकारी कर्मों को करते रहना चाहिए क्योंकि उन्हें न करने से वह पाप का भागी बनेगा, जिसके प्रायश्चित्त स्वरूप दुःखपूर्ण अनुभव भोगने के लिए उसे फिर शरीर धारण करना पड़ेगा। इस तरह स्पष्ट होता है कि प्रभाकर एवं भट्ट मीमांसक दोनों मोक्ष के निषेधात्मक रूप को प्रस्तुत करते हैं वे मानते हैं कि मोक्ष, केवल दुःखों का ही नहीं अपितु सुखों का अभाव है। यतः मीमांसा बन्धन का कारण शरीर को मानता है, अतः उनके अनुसार शरीर से मुक्ति ही मोक्ष है।

अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न्याय दर्शन में मोक्ष को दुःखों से निवृत्ति की आत्यन्तिक स्थिति मानी जाती है। परन्तु इसका आधार तत्त्व ज्ञान है। तत्त्व ज्ञान के तुरन्तवाद मोक्ष नहीं मिल पाता आत्मा को दुःख जन्म, प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञान इनका उत्तरोत्तर विनाश होने पर कारण के पहले बिना व्यवधान के वर्तमान कार्य का विनाश होता है तब अपवर्ग होता है। इस विषय में यह भी प्रश्न उठता है कि क्या मोक्ष जड़वत हैं? क्या जड़ पदार्थ की दशा को मोक्ष माना जाए? इन प्रश्नों का उत्तर न्यायाचार्य देते हुए कहते हैं कि मुक्त आत्मा में हम दुःख के अत्यन्ताभाव का ज्ञान करने वाला एक विशिष्ट सम्बन्ध मानते हैं। यह सम्बन्ध सभी जड़ पदार्थों में नहीं मिलता। यह विशिष्ट सम्बन्ध एक अद्वितीय सम्बन्ध है, जो एक ही आत्मा रूप आशय में रहने वाला समकालिक दुःख प्रागभाव के अलावा दुःख ध्वंस है। ऐसा लक्षण मुक्त पुरुषों में देखा जा सकता है। प्रश्न है कि क्या ऐसे पुरुष हैं? निश्चय ही

शास्त्रकारों ने प्रह्लाद, शुकदेव, नामदेव ऐसे मुक्त आत्माओं का उदाहरण प्रस्तुत किया है किन्तु ऐसा इनको समझना न्याय दर्शन के सूक्ष्म चिन्तन का परिणाम ही माना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन :- कणाद कृत वैशेषिक दर्शन का विकास ३०० ई. पू. में माना जाता है। इसके प्रवर्तक कणाद के नाम का अभिप्राय यह है कि फसल काटते समय जो अनाज गिरता था उसी अन्न कण को ये चुनचुन कर खाते थे कणम् अत्ति इति कणादः। ऐसा कहा जाता है कि ऐसे अन्न कण पर किसी का अधिकार नहीं होता है। ऐसे अन्न के खाने से मानसिक वृत्तियाँ सात्विक बनीं रहती है। यही कारण है कि महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन के एक महान चिन्तक हुए। वैशेषिक दर्शन एक अत्यन्त उपयोगी और स्वाभाविक दर्शन है। यह व्यावाहरिक होने के साथ ही वैज्ञानिक भी है। परमाणुवाद की स्थापना वैशेषिकों ने उस समय की थी, जब कि वैज्ञानिक परीक्षण का कोई साधन उपलब्ध नहीं था। परमाणु ही वस्तुतः परमार्थतः सत्य होता है।

यदि पाश्चात्य दार्शनिक डेमोक्रिट्स के दर्शन का अध्ययन किया जाए तो वैशेषिक दर्शन के परमाणु सिद्धान्त के समान वह प्रतीत होता है। प्राचीन काल में वैशेषिक दर्शन का साहचर्य बौद्ध दर्शन के साथ विशेषतया घनिष्ठ प्रतीत होता है। वैशेषिक दर्शन के प्रथम सूत्र से ही प्रतीत होता है कि धर्म की व्याख्या करना महर्षि कणाद का प्रधान लक्ष्य है। अथातो धर्म जिज्ञासा से वह शुरू होता है। धर्म का लक्षण[1] है किरणावली और उपस्कार के व्याख्यानुसार अभ्युदय का अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का अर्थ मोक्ष होता है। महर्षि कणाद ने धर्म लक्षण की प्रतिज्ञा तो

---

1. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः। वै. सू. 1/1/2

की परन्तु सात पदार्थों के वर्णन तक ही अपने विचार को उन्होंने सीमित कर लिया। महर्षि कणाद ने विश्व को सात पदार्थों में विभक्त किया है। वे पदार्थ हैं- द्रव्य, गुण, धर्म, कर्म, समवाय विशेष, समवाय तथा अभाव। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं। पृथ्वी अप्, तेजः, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मनस्। इसी तरह २४ तरह के गुणों एवं पाँच कर्मों का भी निर्देश किया। इनके मत में विशेष एक नित्य और पदार्थ है जो जाति है। इसीलिए इसका नाम वैशेषिक पड़ा। पारा की बूँद को विभाजित करते करते एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि उसका विभाजन असम्भव हो जाता है वैशेषिक इसे ही परमाणु कहते हैं। उनका कथन है कि अभाव में सभी तरह के विरोधात्मक तत्त्वों का समावेश होता है- जैसे जल में गन्ध का अभाव है, पृथ्वी में दरार का अभाव है ऐसे निषेधात्मक कथन 'अभाव' के अन्तर्गत आते हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार मनुष्य को निःश्रेयस की उपलब्धि द्रव्य गुण आदि पदार्थों के यर्थाथ ज्ञान से होती हैं और इसके साथ मानव को धर्म का आचरण करने का निर्देश भी देती है। महर्षि कणाद के प्रथम सूत्र प्रशस्तवाद भाष्य में कहा गया है कि मोक्ष ईश्वर की प्रेरणा को अभिव्यक्त होने वाले धर्म से ही होता है।[1] धर्म का आचरण एवं कल्याण करता हुआ मानव ज्ञान कर्म समुच्चय का आश्रय लेकर मुक्त हो जाता है। शास्त्रकारों ने कहा कि यह लौकिक संसार ईश्वर की अलौकिक इच्छा का परिणाम है और यही धर्म है।[2]

---

1. तच्चेश्वर चोदनाऽभिव्यक्ताद् धमदिव। प्र. पा. भा. पृ. 18।
2. या विभर्ति जगत् सर्वमीश्वेरच्छा हयलौकिकी सैव धर्मः। प्र. पा. भा. पृ. 18

इसके अतिरिक्त द्रव्य गुण कर्म आदि सात पदार्थों का साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान भी धर्म की उत्पत्ति में कारण होता है। महर्षि प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में धर्म का लक्षण बड़े सुन्दर ढंग से किया है। शास्त्र के अनुसार मनुष्य को हमेशा अच्छे कर्मों का आचरण करना चाहिए, बुरे कर्मों का परित्याग करना चाहिए। धर्म ही मनुष्य की विपत्ति से रक्षा एवं मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला होता है। मनुष्य के जीवन में जितने भी सत्कर्म हैं, उनका सभी को पालन करना चाहिए, क्योंकि यही धर्म है। जैसा कि प्रशस्तपाद भाष्य में कहा गया है-

सुखार्थं सर्वभूतानां मताः सर्वा प्रवृत्तयः।

सुखं च न बिना धर्मात् तस्माद् धर्मचरो भव।।

इससे यह प्रमाणित होता है कि व्यक्ति को सामान्य धर्मों में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिहित साधन, सत्यवचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा अक्रोध, स्नान, पवित्र द्रव्य सेवनः विशिष्ट देवता की भक्ति, उपवास आदि कर्मों में निरन्तर तत्पर रहना चाहिए।

कणाद के अनुसार मोक्ष की परिभाषा भी नैयायिक कल्पना के अनुरुप हीहोती है। जब अदृष्ट के अभाव होने पर कर्म चक्र की गति का अपने ही आप अन्त हो जाता है, तब आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और जन्म मरण की परम्परा भी

---

1. धर्मः पुरुषगुणकर्तुः प्रियहित मोक्ष हेतुः, अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी पुरुषान्तः करण संयोग विशुद्धाभिसन्धिजः वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः। तस्य तु साधनानि श्रुति स्मृति विहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेऽस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि। प्र. पा. भाष्य पृ. 659

उसी के साथ बन्द हो जाती है। साथ ही सब दुःखों का नाश हो जाता है, यही मुक्ति है।[1] अतः हम यह कह सकते हैं कि जिसमें धर्म की प्रधानता है उसके तप से व्यति के समस्त पाप एवं दोष क्षीण हो जाते हैं और उसे ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।[2] इसी से मोक्ष मिल सकता है। अपने धर्म का शुद्ध आचरण करना पापी की ओर प्रवृत्त न होना, वेद द्वारा कहे गए मार्ग का अनुसरण करना, हे ब्राह्मण! यह परम मुक्ति का कारण है।

प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है कि द्रव्यगुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय औरअभाव इन सात पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के ज्ञान से मोक्ष मिलता है। मोक्ष भी ईश्वर की प्रेरणा से प्रकट होने वाले धर्म से ही होता है।

वैशेषिक के अनुसार ईश्वर की कृपा प्राप्त होने पर भक्त का सभी दुःख ऐहिक दैहिक भौतिक दुःख से छुटकारा एवं मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। भक्तों की उपासना के अनुसार ही शिव शक्ति, गणेश, सूर्य, विष्णु आदि रुपों में प्रकट होकर मोक्ष को देने वाले हैं।[3] क्योंकि धर्म एक तरह का कर्म है। ईश्वर की इच्छा से ही द्रव्यादि ६ भाव पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य पूर्वक ही धर्म का कारक है।[4]

---

1. वैशेषिक सूत्र 5/2/18
2. (क) धर्मं प्रधानं पुरुषं तपसा हतं किल्विषम्।
   परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं च शरीरिणम्।।
   (ख) स्वधर्माचरणं शुद्धं विधर्माच्च निवर्तनम्।
   वेदोक्ताचरणं विप्रः परं निर्वाणकारणम्।।
3. शिवशक्तिगणेशार्कविष्णुरुपात् स ईश्वरः।
   उपासनानुपूर्वेण भक्तेभ्यो मुक्तिभुक्तिदः।।
4. तच्चेति चकारेण द्रव्यादिसाधर्म्यज्ञानेन सह धर्मस्य निःश्रेयस हेतुत्वं समुच्चिनोति।
   कन्दली टीका पृ. 18

अतः साधक को धर्म की उत्पत्ति व मोक्ष के लिए निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्र का कथन है कि शुभ कर्मों के अनुष्ठान से आत्मा ही दुःखों से रक्षा की जा सकती है।[1]

तदन्तर स्वतः मनन निदिध्यासन करने से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। धर्म संस्कार युक्त रस ज्ञान से अज्ञान राग द्वेष आदि के संस्का तथा धर्म- अधर्म की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। प्रवृत्ति एवं आसक्ति न रहने से जन्म मरण परम्परा का सदा उच्छेद हो जाता है। पुनः शरीर का उत्पन्न न होना तथा ईधन के जल जाने पर शान्त अग्नि के समान आत्मा का उपशय होना ही मोक्ष है।[2]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्योंकि वैराग्य होने पर मनुष्यों की काम्य कर्मों में प्रवृत्ति न होने पर भी शास्त्र विहित नित्य नैमित्तक कर्मों में प्रवृत्त होने का विधान है तो है ही।[3] इस तरह आत्मा की दुःख सुख आदि गुणों से विमुक्ति है ज्ञान कर्म, समुच्चय से ही मोक्ष उपलब्ध होता है।[4] अदृष्ट से प्रेरित होकर मन ही सुख दुःख आदि का अनुभव करता है। मुक्त आत्मा में

---

1. आत्मा वैशक्यते भातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः।
2. ज्ञानपूर्वकात्तु कृतादसंकल्पित फलाद् विशुद्धे कुले जातस्य दुःख विगमो पायजिज्ञासोराचार्यमुपसंगम्यौत्पन्न षट्पदार्थ तत्त्वज्ञानस्याऽज्ञान निवृत्तो विरक्तस्य रागद्वेषाद्यभावात् तज्जयो धर्माधर्मयोरुत्पत्त पूर्वसंचितयोश्चोपभागनिरोधे सन्तोष सुखं शरीर परिच्छेदं चोत्पाद्य रागादिनिवृत्तौ निवृत्तिलक्षणः केवलो धर्मः परमार्थदर्शनजं सुखं कृत्वा वर्तते। तदा निरोधात् निर्वीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धना नलवदुपशमो मोक्षः। प्रशस्तपाद भाष्यम् पृ. 681।
3. यानि काम्यानि कर्माणि प्रतिसिद्धानि यान्यपि।
   तानि बन्ध्नन्त्यकुर्वन्तं नित्यनैमित्तिकान्यपि।। कन्दली टीका पृ. 684
4. कर्मणा सत्वसंशद् विज्ञानेनात्मनिश्चयः।
   भवेद् विमुक्तिरभ्यासात् तमोदेव समुच्चयात्।। कन्दली टीका पृ. 689

तो अदृष्ट धर्म, अधर्म रहते नहीं है। तब आत्मा मन की सहायता से सुख का अनुभव कैसे करेगा? इस विषय में पण्डित शिवदत्त मिश्र का कथन है कि दुःखादेः स्वसाक्षात्कारनाश्यतया तदानीमसम्भावात् उत्तरक्षणे साक्षात्कारसम्भवात् अविदिते प्रमाणाभावात्।[1]

मुक्ति में अनित्य सुख रहता है। यदि मोक्ष की तरह आनन्द भी नित्य है तो नित्यसुखाभि व्यक्तिर्मुक्तिः। इसी को हम मोक्षया अपवर्ग कह सकते हैं।[2] शरीर मोक्ष और धर्मोपार्जन का साधन माना जा सकता है। मन भी मोक्ष में सहायक है। मन शरीर में ही अधिष्ठित रहता है। मन के बिना मोक्ष का चिन्तन कौन कर सकता है। वेद में कहा गया है कि शरीर भी मोक्ष का साधन है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवधारणा को व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं कहा जा सकता। मनुष्यों की भाँति पशु को भी मोक्ष का अधिकारी माना गयाहै। जैसे कि श्रीमद्भगवदगीता में स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रा स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् (६-३२) हमारे शास्त्रों में गजेन्द्र मोक्ष, जटायु मोक्ष जैसे उदाहरण भी इस तथ्य को प्रभावित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मोक्ष का अधिकार असीमित है।

---

1. सिद्धान्त लक्षण की जागदीशी टीका चौखम्भा प्रकाशन पृ. 112
2. एके त्वात्यन्तिकी सुखाभिव्यक्तं मुक्तिं ब्रुवते। न्याय वैशेषिक पृ. 84

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार त्रिगुणात्मक सृष्टि के दो प्रयोजन है- भोग एवं मोक्ष। पुरुष के भोग के लिए पहले त्रिगुणात्मिका प्रकृति इसके समक्ष विषयों को उपस्थित करती है। भोग के बाद उसका काम है पुरुष के लिए मोक्ष का सम्पादन करना। जिस समय बुद्धि में सत्त्व पुरुषान्यथा ख्याति का उदय होता है उस समय इस वृत्ति से विशिष्ट पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् समझने लगता है। संप्रज्ञात का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते अन्त में विवेक ख्याति के प्रति भी हेय बुद्धि जागरित होती है। इसे ही जीवित व्यक्ति की जीवन मुक्ति कहते हैं। प्रारब्ध कर्म का भोग द्वारा क्षय होने पर देहपात के पश्चात् विदेह मुक्ति हो जाती है।

केवल्यस्य भावः कैवल्यम्- अर्थात् पुरुष की केवलता अथवा स्वस्वरुपावस्थिति की पद्धति समझ में आ जाती है। पुरुष को मुक्त करके बुद्धि भी निवृत्त हो जाती है। अतः कैवल्य वही है, जिस अवस्था में बुद्धि, सत्त्व का पुरुष से संयोग होने की कभी भी सम्भावना न हो। यह तभी सम्भव है जब कि सत्त्व (सत्त्वप्रधान बुद्धि) एवं पुरुष दोनों में शुद्धि साम्य हो। उस पुरुष के लिए गुणों का दृश्य रूप में उपस्थित न होना ही उसका कैवल्य है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर परिधान के अलावा भी विवेक ख्याति प्राप्त की जा सकती। भक्ति विशेष से आवर्जित ईश्वर अपने भक्त को बुद्धि योग प्रदान कर देता है। इसके अलावा सिद्ध ब्रह्मज्ञानी का आशीर्वाद या प्रसाद भी विवेक ख्याति को उत्पन्न कर सकता है।

३. शांकर वेदान्त और इसकी मोक्ष दृष्टि-

उपनिषदों में वेदान्त शब्द प्रयोग वेद विद्या का समापन अर्थ में हुआ है। वेदान्त उपनिषद् से प्रमाणिक दर्शन है। षड् दर्शनों का समुन्नत स्वरूप भी वेदान्त को कहा जा सकता है। अनेक भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने वेदान्त की मुक्ति व सिद्धान्तों का प्रयोग अपने-अपने दर्शनों में किया है। वेदान्त के अध्ययन के बिना अन्य दर्शनों का अध्ययन अपूर्ण ही रहता है। वेदान्त की अनेक धारायें है- १. अद्वैत वेदान्त २. विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, भेदाभेद आदि।

१. <u>अद्वैत वेदान्त</u> :- अद्वैत मत के आचार्यों में शुक, गौडपाद, गोविन्द, भगवत्पाद तथा शंकराचार्य के नाम लिए जाते हैं। इन आचार्यों का मत शंकर के दर्शन में पूर्णतया पल्लवित और विकसित हुआ है। भगवान् शंकर का दर्शन अपने प्रतिपाद्य ब्रह्म के समान पूर्वा पर कोटि वर्ज्य एवं पूर्ण है। इसीलिए आचार्य शंकर को भगवान् शंकर का अवतार माना जाता है। विश्व के दार्शनिकों में शंकराचार्य का स्थान सर्वोच्च है। ऐसी उक्ति भी प्रसिद्ध है कि महाशक्तिशाली वेदान्त केशरी के सिंहनाद को सुनकर को सुनकर अन्य दर्शन जम्बूकों के समान वन में छिप जाते हैं।

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त केशरी।।

(डॉ. चन्द्रधर शर्मा, बौद्धदर्शन व वेदान्त पृ. २१)

ब्रह्मज्ञानावली माला में शंकराचार्य अद्वैतवेदान्त का सार आधे श्लोक में इस तरह व्यक्त करते हैं-

केवल ब्रह्म ही परम शक्ति है। नानात्व से भरा यह जगद् मिथ्या है तथा अन्ततो विश्लेषण में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।[1]

शंकर के दर्शन में दो के लिए स्थान नहीं है जैसा कि 'अद्वैत' नाम से स्पष्ट है। यह द्वैत का दर्शन नहीं है। अतः जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध भावात्मक नहीं बल्कि निषेधात्मक शब्दावली में अधिक सही ढ़ंग से व्यक्त किया जा सकता है। इसी तरह शंकर इनके सम्बन्ध को अभेद, अद्वैत आदि शब्दों द्वारा व्यक्त करते है।

अद्वैत की चार मुख्य धारायें हैं- १. ब्रह्माद्वैत २. शब्दाद्वैत ३. शिवाद्वैत ४. शून्याद्वैत।

ब्रह्माद्वैत में शंकराचार्य का अद्वैतवाद है। शब्दाद्वैत में वैयाकरणों का स्फोटवाद आता है। काश्मीर के शैव सिद्धान्त के अन्तर्गत शिवाद्वैत तथा बौद्धों का शून्य द्वैत आता है। इसमें शून्याद्वैतवाद का खण्डन भी किया गया।

शंकराचार्य बुद्धि से उच्च अपरोक्ष अनुभूति के दृष्टिकोण की चर्चा करते हैं। यही पारमार्थिक सत्य है। ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण ब्रह्म द्वारा होता है। शरीर का नियन्त्रण चेतन जीव के द्वारा होता है। अविद्या के निवृत्त होने पर जीव और ब्रह्म का अभेद होना ही 'ब्रह्माद्वैतवाद' के मत में मुक्ति होती है।

ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सत्य है तथा यह जगत् मिथ्या है। ब्रह्म जीव में भेद नहीं है। ब्रह्म संसार से परे होता है। इसका व्यावहारिक रूप जानने

---

1. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। ब्रह्मसूत्र

के लिए तैत्तिरीय उपनिषद् का अध्ययन आवश्यक है। इसमें ब्रह्म को *'सत्यं ज्ञानमनन्तं'* कहा गया है। ब्रह्म अनेक रूप में परिभाषित किया गया है। ब्रह्म वह है, जिसमें सभी प्राणी उत्पन्न होते है और स्थित रहते हैं तथा अन्त में लय हो जाता है। अतः ब्रह्म अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय, आनन्दमय के योग से पाँच कोशों वाला कहा जाता है।

पर ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान को परा विद्या तथा अपर ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान को 'अपरा विद्या' कहा गया है। डॉ. पाल डायसन ने इन दोनों विद्याओं को एक-दूसरे का विरोधी बतलाया है। ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मायिक या मिथ्या है। उसे ब्रह्म इसलिए कहा जाता है कि वह सर्वव्यापक है नित्यअखण्ड, शुद्ध, एकरस, ज्योति तथा चैतन्य है। निमित्त एवं उपादान दोनों काराण वाला ब्रह्म होता है। माया ब्रह्म का विवर्त है और ब्रह्म माया का विवर्तोपादान कारण है। यह एक अद्वितीय तथा निर्गुण है। निर्गुण ब्रह्म का हम न तो कोई विचार कर सकते है न ही उसके स्वरूप वाणी से व्यक्त कर सकते है। तात्विक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म में एक मात्र सत्य होता है। परन्तु शंकराचार्य साधारण धार्मिक लोगों की भावना की अवहेलना नहीं करते हैं बल्कि ईश्वर और सगुण ब्रह्म को अपने दर्शन में स्थान देते हैं। उनके मत में दोनों भिन्न नहीं बल्कि एक हैं, सत्य हैं।

व्यावहारिक रूप से संसार का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर भी विनश्वर होने से वह अपारमार्थिक ही है। पारमार्थिक उस वस्तु को कहा जा सकता है, जो सदा एक रूप से स्थिर रहने वाला हो एकरूपेण हयवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। इसलिए निर्गुण एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है। इसके अलावा सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है और इस ब्रह्म का विवर्त कार्य है।

वेदान्त परिभाषा परिणामवाद और विवर्तवाद में भेद बतलाती है।

परिणामनामोपादान समसत्ताककार्यापत्तिः।

विवर्तो नामोपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।।

उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है। विषम कार्य विवर्त होता है। जैसे दही दूध का परिणाम है और सर्प रस्सी का विवर्त है।

ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक या तात्विक सत्ता है। इस सत्ता का निराकरण नहीं हो सकता। स्वप्न शुक्ति और सर्प की प्रातिभासिक सत्ता है। जाग्रतावस्था रजत और रस्सी की व्यावहारिक सत्ता है। अद्वैत वेदान्त में ईश्वर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म और कार्य ब्रह्म इत्यादि पर्याय शब्द हैं। पंचदशी के अनुसार माया विशुद्ध सत्त्व प्रधान है तथ अविद्या मलिन सत्त्व प्रधान होती है। उनके मत में माया में प्रतिफलित चिदानन्द सर्वज्ञ ईश्वर है और अविद्या में प्रतिविम्बित चिदात्मा जीव है।[1]

अविद्या का मोक्ष से सम्बन्ध इसलिए है कि अविद्या निवृत्ति के पूर्व मोक्ष सम्भव ही नहीं है। इसलिए अविद्या निवृत्ति बोध आवश्यक है।

बुद्धि या जीव स्वयं ही अविद्या जन्म होते है। 'सत्यं ज्ञान मननतं ब्रह्म' यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है इससे ब्रह्म की अनन्ता तथा ज्ञान स्वरूपता प्रतिपादित होती है। स्वरूप लक्षण का तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ज्ञान। उक्त दोनों लक्षणों से लक्षित ब्रह्म अपनी माया शक्ति से संसार का भ्रम उत्पन्न करता है। माया मिथ्या है, इसका कार्य भी मिथ्या है।

---

1. पंचदशी 1/16-17

एक जादूगर के समान मिथ्या संसार को भी ब्रह्म अपनी सत्ता से सत्य पदार्थ के रूप में दिखाता है।

अविद्या होने बोध होने से ही मोक्ष मिल सकता है। अविद्या का रहना ही बन्ध है। 'विज्ञानमान्दं ब्रह्म'। ब्रह्म सगुण-निर्गुण रूप से द्विविध है। सगुण ब्रह्म मानव की सीमित बुद्धि द्वारा उसे विशेषणों से विभूषित करता है। एवं उपासना, दया, दाक्षिण्य, अगाध, करुणा आदि गुणों से मण्डित मानता है। यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर है।

निर्गुण ब्रह्म शंकर मत में सजातीय-विजातीय तथा स्वगत इन तीन भेदों से रहित होता है। रामानुज मत में ब्रह्म के दो अंश रहते हैं- १. चित् अंश २. अचित् अंश, ये आपस में विरुद्ध होते हैं। विश्वरूप ब्रह्म निर्वचनीय तथा विश्वातीत रूप में अनिर्वचनीय होता है क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिए वह निर्गुण है।[1]

अविद्या :- अविद्या भावरूपा है, जो बन्धन का कारण कहीं जाती है। संसारोत्पत्ति का मूल भी यही है। चित्सुखाचार्य ने कहा है कि अविद्या अनादिकाल से चली आ रही है। यह भावात्मक है तथा ज्ञान के द्वारा इसका बोध होता है। यह अज्ञान है। अविद्या ब्रह्म की एक शक्ति है। सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथक् गणना क्वाचित्। पंचदशी के इस श्लोक से

---

1. एक एव आत्मवान् ईशत् ईशनीभिः सर्वान् लोकान् ईशत् ईशनीभिः।

कि अकेली शक्ति की पृथक् रूप से तुलना नहीं की जा सकती।

अविद्या एवं माया का अन्तर भी समझना जरुरी है। माया का आश्रय ईश्वर है। अतः वह सर्वज्ञ तथा शक्तिमान् है। माया ईश्वराधीन होने की वजह से उसे आवृत नहीं कर सकती किन्तु जब हम अविद्या की बात करते हैं तो यह समझते हैं कि वह अपने आश्रय अर्थात् जीव के अन्तःकरण में भ्रम पैदा कर देती है। द्रष्टा को सीपी में रजत की प्रतीति होती है। इस तरह प्रतीति की वस्तु रजत अविद्यामय कही जाती है। माया मय नहीं, कुछ आचार्यों ने यह भी स्पष्ट किया है कि शुद्ध सत्त्व प्रधान माया है तथा अशुद्ध सत्त्व प्रधान अविद्या है। जैसा कि पंचदशी में प्रतिपादित है-

सत्त्व शुद्धध्यशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते

अविद्या ग्रस्त होकर भी जीव कर्ता या भोक्ता कहा जाता है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। माया से समन्वित होने के कारण ब्रह्म ईश्वर बन जाता है और इस भाव में भी वह अपने स्वरूप को नहीं भूलता है। प्रश्न उठता है कि मुक्ति की दशा क्या है? अद्वैत वेदान्त यह मानता है कि अविद्या ही समस्त संसार की जननी है। फलतः उसका नाश ही मुक्ति है।

साऽविद्या संसृतेर्बीजं तत्वाशोमुक्तिरात्मनः (नैष्कर्म्यसिद्धि १-७)

अविद्यानाश, विद्या या ज्ञान से सम्भव है। परा ज्ञान से अज्ञान समाप्त होकर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है। अद्वैत यह भी स्वीकार करता है कि ज्ञान के पूर्व भी आत्मा ब्रह्मरूप में स्थित था ज्ञान प्राप्ति के बाद भी ब्रह्म रूपता को प्राप्त होता है।

आत्मा की तीन अवस्थायें होती है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जाग्रत में आत्मा संसारी होता है इन्द्रियों द्वारा वह बाह्‌य जगत् का ज्ञान करता है। स्वप्न में अतात्विक पदार्थों का अनुभव होता है। सुषुप्ति की अवस्था वह है जहाँ इन्द्रियाँ व अन्तःकरण के लीन हो जाने पर एक सूक्ष्म वृत्ति बनी रहती है जिससे जाग्रतावस्था में आने पर अज्ञान या सुख का अनुभव होता है। जैसे–मैं खूब सोया। आत्मा की ये तीनों अवस्थायें मिथ्या ज्ञान पर आधारित होने से बन्धन अवस्था को स्पष्ट करती है। वही प्रपंच का ज्ञान कराते हैं। इनसे निवृत्ति की अपेक्षा जबकि जाती है तब वह मोक्षावस्था कही जाती है।

मोक्ष की दशा अद्वैतमतानुसार आत्मा व ब्रह्म के तादात्म्य की दशा होती है। सर्वोच्च सुख व आनन्द की अवस्था ही मोक्ष है। उपर्युक्त तीन अवस्थाओं से भिन्न यह तुरीयावस्था कही जाती है।

आचार्य शंकर ने इसे इस तरह परिभाषित किया है। इदं तु पारमार्थिंक कूटस्थनित्यव्योमवत्सर्वव्याप्ति सर्वविक्रिया रहितं नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वयं ज्योतिः स्वभावं, यत्र धर्माधर्मौ सहाकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते तदैतद शरीरत्वं मोक्षमत्वम्।[1]

आत्मा एवं ब्रह्म का ऐक्य भाव ही मोक्ष है। मोक्ष को परमार्थ सत्य कूटस्थ आकाश तथा परिवर्तनों से मुक्त निखयव, नित्य संतुष्ट, परम सुख, स्वयं प्रकाशमय, त्रिकालाबाधित अशरीरी स्वरूप कहा गया है। अतः मुक्ति पूर्णता की अवस्था है।

---

1. शंकर भाष्य पृ. 73-74

:: मुक्ति स्वरूप ::

१. <u>सद्यो मुक्ति</u> :- यह अवस्था आत्मा व ब्रह्म के तादाम्य का ज्ञान है।

२. <u>क्रम मुक्ति</u> :- अज्ञान से निवृत्ति की क्रमशः चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की दशा क्रम मुक्ति है। सगुण ब्रह्म के उपासकों के लिए मुक्ति की यह दशा आवश्यक है।

३. <u>जीवन्मुक्ति</u> :- इस दशा में मोक्ष प्राप्त करे वाले मनुष्य का शरीर बना रहता है क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। ऐसे व्यक्ति को संसार का मोह शोक आदि प्रपंच नहीं सताता। उसे संसार के दुःख भी नहीं सताते। अतः जीवन जीते हुए दुःखों से मुक्ति पा लेना ही जीवन्मुक्ति की अवस्था होती है।

४. <u>विदेह मुक्ति</u> :- जब कर्म भी शान्त हो जाता है तब शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है। जब जीव स्थूल व सूक्ष्म दोनों तरह के शरीर से मुक्त हो जाता है तब विदेह मुक्ति की दशा प्राप्त होती है। विदेह मुक्ति वर्तमान शरीर व भावी शरीर दोनों से मुक्त होने की दशा है। अद्वैत दर्शन के अनेक आचार्यों जैसे विद्यारण्य आदि ने विदेह मुक्ति की इसी तरह से चर्चा की है।

:: विशिष्टा द्वैत ::

अद्वैतमद के बाद विशिष्टाद्वैत अर्थात् वैष्णव मत का प्रचार हुआ। वैष्णव मत के चार सम्प्रदाय १. वैष्णव २. ब्रह्म ३. रुद्र ४. सनक। वैष्णव मत के प्रधान रामानुजाचार्य है। ब्रह्म के माधवाचार्य रुद्र के वल्लभाचार्य तथा सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क हैं।

अतः अज्ञान के कारण मनुष्य शुद्ध आत्मा के स्वरूप को भूल जाता है। इसी से जन्म मृत्यु चक्र चलता रहता है। अतः इसका अन्त होना ही मोक्ष है-

अथ कर्मणा सम्बन्ध स्वपरं ज्योतिः रूपं सम्बन्ध बन्धनियति रूपा मुक्तिः।[1]

अतः रामानुज मत में जन्म मरण का अभाव ही मोक्ष उत्पन्न होता है। जब आत्मा का कर्तापन व भोक्तापन समाप्त हो जाता है तभी बन्धन का नितान्त अभाव होता है। यह अभावात्मक पक्ष है। रामानुज मत में भावात्मक पक्ष से यदि देखा जाए तो वे मोक्ष को शुद्ध जीव का ईश्वर के साथ वे साक्षात्कार मानते हैं। साक्षात्कार की अवस्था आचार्य शंकर व रामानुज के मत में पृथक्-पृथक् है। शंकरमत में जीवन मुक्ति की स्थिति में ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। रामानुज मत में ब्रह्मज्ञानी को मोक्ष प्राप्त करने के लिए कुछ समय लग सकता है। वे शरीर के रहते मोक्ष प्राप्ति नहीं मानते। शरीर त्याग के पश्चात् जीव की ब्रह्मलोक यात्रा आरम्भ होती है।

रामानुज मत में मुक्ति की पाँच अवस्था होती हैं।

१. *सलोक्य मुक्ति-* इस अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। इसे विष्णुलोक प्राप्ति भी कहते है।

२. *सार्ष्टि मुक्ति-* इस अवस्था में जीवात्मा, परमात्मा (ब्रह्म) के निकट रहकर समीपता का आनन्द प्राप्त करता है।

३. *सारूप्य मुक्ति-* इस दशा में जीवात्मा, परमात्मा के स्वरूप का लाभ लेता है।

---

1. श्री भाष्यम् - 4/4/2

रामानुजाचार्य ब्रह्म को चित् अचित् ईश्वर इन तीनों को सत्य मानते हैं। चेतन, अचेतन से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्त्व है। इस मत को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

रामानुजाचार्य के मत से चित् तत्त्व जीवात्मा है वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न है। यह चित् तत्त्व स्वप्रकाश आनन्दरूप, सुखरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, निर्विकार तथा ज्ञान का आश्रय होता है। ईश्वर इसका नियामक है, ईश्वर ही इसे धारण करता है। जो ईश्वर का अंगभूत भी है।

रामनुज मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य अवश्य मानते हैं, किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जीवात्मा के तीन स्वरूपों का विवेचन किया है। जीवात्मा त्रिविध होते हैं–

१. बद्ध जीव :– जो सभी तरह के शरीरों में निवास करते हैं। ब्रह्म से लेकर कीट पतंग सभी बद्ध जीव होते हैं।

२. मुक्त जीव :– जो भगवान की अराधना को अपना कर्तव्य मानकर दास की भाँति इनका ध्यान करते हैं। ऐसे जीव अनेक हैं।

३. नित्य जीव :– वे जीव जो कभी भी इस संसार में न आये हों, ऐसे जीव भगवान के विरुद्ध कभी भी आचरण नहीं करते। ईश्वर की इच्छा से ही इनकी नियति आवश्यक है। भगवान के समान इनका अवतार भी सम्भव है। जैसे अन्ततः गुरुड, विष्यक्सेन।

अतः रामानुज मत में जीवात्मा की अन्तिम परिणति मोक्ष है। जीवन व मरण के बन्धन का विनाश ही मोक्ष है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध ही बन्धन का कारण बनता है। इसी से अज्ञान वश कर्म किए जाते हैं। आत्मा अनुरूप है, यह शरीर को चेतन बनाता है।

४. *सायुज्यमुक्ति-* इसमें चारमावस्था के साथ एकरूप हो जाने की अवस्था ही सायुज्य मुक्ति है।

इन अवस्थाओं के वर्णन में यह भी प्रतिपादित है कि शरीर का अन्त होने पर वाक्शक्ति का मन में लय होता है। सभी ज्ञानेन्द्रियाँ मन में समाहित हो जाती हैं। मन का लय प्राण में होता है। प्राण का फिर आत्मा में विलीनकरण हो जाता है। इस अवस्था तक ब्रह्मज्ञानी और अज्ञानी का शरीर से अपसरण एक समान है। तत्पश्चात् ब्रह्मज्ञानी की आत्मा सुषुम्ना के मार्ग से गुजरते हुए शरीर को त्यागती है तथा देवयान की ओर अग्रसर होती है। अतः ब्रह्मज्ञानी देवयान के विभिन्न सोपानों को पार करता है। पहले वह अग्नि को प्राप्त करता है। इसके बाद दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को फिर उत्तरायण के ६ महीनों पुनः संवत्सर को प्राप्त करता है। यहीं से देवलोक की यात्रा शुरू होती है। इस यात्रा की अवधि में क्रमशः वायु लोक, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, वरूण, इन्द्र, प्रजापति लोकों के बाद अन्ततः ब्रह्मलोक में आत्मा पहुँचती है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही सालोक्य मुक्ति कही जाती है। इस दशा में जीवात्मा ईश्वर के समान ऐश्वर्य का भोग करती है। इसे सार्ष्टि मुक्ति कहा जाता है। रामानुज मत में मोक्ष की अन्तिम अवस्था में जीवात्मा की वैयक्तिकता कायम रहती है ताकि ईश्वर के साक्षात्कार का आनन्द ले सकें। इसलिए रामानुज ने भक्ति को ही मोक्ष का एक मात्र उपाय बतलाया। भक्ति सहित ज्ञान ही मोक्ष उनके मात्र में होता है।

भक्ति प्रपत्योरेव मोक्षसाधनस्वीकारात् भक्तिप्रपन्तिभ्यां प्रसन्ने ईश्वरं एव मोक्षं ददाति[1]।

---

1. यतीन्द्रदीपिका पृ0 40।

यहाँ.१ भक्ति का अर्थ ईश्वर को भजना तथा प्रपत्ति का अर्थ- ईश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित होना है। यही मोक्ष का सरल उपाय है।

द्वैताद्वैत- वैष्णव धारा में श्री ब्रह्म, रुद्र, सनक ये चार सम्प्रदाय विदित हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय सनक नाम से विदित है। इसके उपदेष्टा हंसावतार भगवान है। उनके शिष्य सनत्कुमार हैं जिन्होंने इसका उपदेश नारद जी को दिया। पुनः नारद से निम्बार्क को उपदेश प्राप्त हुआ।

निम्बार्काचार्य के जन्म काल के विषय में मतभेद विदित ही है। गवेषकों ने इनका समय १२वीं शताब्दी या उसके पीछे माना है। डॉ. भाण्डारकर ने ११६२ ई. समय बताया है। इनकी जन्मतिथि कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन मानी जाती है। गोदावरी नदी के किनारे इनका जन्म हुआ। इनके पिता माता तैलंग ब्राह्मण थे। पिता का नाम अरुण ऋषि तथा माता का नाम जयन्ती था।

इनके ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र भाष्य, वेदान्त पारिजात मन्त्ररहस्य षोडशी प्रपन्नकल्पवल्ली, दशश्लोकी आदि प्रमुख है।

निम्बार्क मत में तद्भावापत्ति ही मोक्ष है। अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के ध्वंस रूप अभावपूर्वक समस्त अविद्याओं की भली-भाँति निवृत्ति हो जाने पर जब तक आत्मा रहती है तब तक परिपूर्ण रूप से परमात्मा के स्वरूप गुण, लीला आदि विषयों की अनुभव धारा ही मुक्ति है। इसे भगवद् भावापत्ति, सायुज्य साम्यादि शब्दों से जाना जाता है।

निम्बार्क मत में ब्रह्म के साथ जीव का सम्बन्ध भेदाभेद होता है, जो नित्य एवं स्वाभाविक है।

मुक्त जीव भी ब्रह्म से भिन्नाभिन्न होते हैं, अभिन्न नहीं। मुक्तिकाल में जीव का अपने स्वरूप और धर्म का पूर्ण विकास होता है। जीव, ब्रह्म के समतुल्य होता है।

अविद्या अज्ञान या कर्म की निवृत्ति एवं आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान मोक्ष, होता है। अज्ञान निवृत्ति का अर्थ ब्रह्म ज्ञान होता है। ज्ञान का विषय बद्ध जीव नहीं, बल्कि मुक्त जीव ही हो सकता है। निम्बार्क जीवन्मुक्ति का खण्डन करते हैं तथा विदेह मुक्ति को ही मानते हैं। अतः सम्पूर्ण दृष्टि से निम्बार्क मुक्ति के विषय में रामानुज के साथ साम्य प्रतीत होता है।

शुद्धाद्वैत :- चार वैष्णव सम्प्रदायों में इनका नाम भी उल्लेखनीय है। श्री वल्लभाचार्य का जन्म १५३५ ई. में वैशाख कृष्ण एकादशी को मध्य प्रान्त के रायपुर जिला के चस्मारण नामक स्थान में हुआ। इनके माता-पिता तैलंग ब्राह्मण थे। इनके जीवन की घटनायें काशी, अडैल तथा वृन्दावन में घटित हुयीं। इन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर एक नवीन भक्ति सम्प्रदाय को जन्म दिया जो पुष्टिमार्ग कहा जाता है। दार्शनिक जगत् में इसे 'शुद्धाद्वैत' मत से समझा जाता है। इन्होंने १. अणुभाष्य २. पूर्वमीमांसा भाष्य ३. तत्त्वार्थ दीप निबन्धन ४. सुबोधिनी आदि अनेक कृतियों का प्रणयन किया।

मोक्ष :- इनके मत में जीव ही बन्धन का कारण है। ब्रह्म सत्यसे भिन्न धारणा मिथ्या है। माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध, ब्रह्म और जगत् का द्वैत यह बताता है कि कार्य कारण रूप ब्रह्म भी शुद्ध है अर्थात् मायिक नहीं है। शंकर का अद्वैत शुद्ध रूप में इसलिए नहीं माना जा सकता है कि उन्होंने ब्रह्म के साथ माया का अस्तित्व स्वीकार किया है।

वल्लभ ने माया के बिना ही सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के अद्वैतों को वेदों का प्रतिपाद्य सिद्ध किया है। उन्होंने कहा है कि संसार का नाश जीव के ज्ञान से होता है और उसका लय ईश्वर इच्छा से। वैराग्य एवं प्रेम से संसार की निवृत्ति हो जाती है तब जीवजीवन्मुक्त हो जाता है।[1] मुक्त जीव ब्रह्म के साथ स्वीव अभितत्त्व एवं आनन्द स्वरूपत्व लाभ करता है।

केवल ज्ञान की अपेक्षा केवल भक्ति श्रेष्ठ है। ज्ञानमुक्त भक्ति का सर्वोच्च स्थान है। ज्ञान से अक्षर ब्रह्म की तथा भक्ति से परब्रह्म श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गी साधन तारतम्य से प्रभु समीप रसानुभव करते हैं। वे दो तरह के होते हैं-१. पुष्टिमार्गी और मर्यादा मार्गी। पुष्टि का अर्थ है- पोषण या ब्रह्म का अनुग्रह। सर्वधर्मानूपारित्यज्य यह पुष्टि मार्ग है। ज्ञान भक्ति द्वारा प्राप्त मुक्ति पुष्टिमार्गी होती है।

इस तरह पुष्टिरूप भक्ति से प्राप्त मोक्ष की प्रशंसा की गई है।

<u>द्वैत वेदान्त</u> :- श्रीमध्वाचार्य वैष्णवाचार्यो में प्रमुख माने जाते है। ये द्वैत मत के प्रतिष्ठापरक माने जाते हैं। इनका जीवन काल विद्वानों ने १२३८ से १३१७ ई. तक माना है। इनका जन्म वर्तमान मैसूर रियासत में प्रसिद्ध क्षेत्र उडुपी से लगभग आठ मील दक्षिण पूर्व पाजक नामक ग्राम में तैलंग ब्राह्मण के घर में हुआ था। दीक्षोपरान्त इनका नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ था।

---

1. मायासम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
   कार्यकारणरूपं हि शुद्धः ब्रह्म न मायिकम्।। शुद्धाद्वैतमार्तण्ड

इनके ग्रन्थों में आनन्दप्रज्ञ भाष्य गीतातात्पर्य निर्णय आदि प्रमुख हैं।

मोक्ष :– मध्वभाष्य में कहा गया है कि भोग को परमात्मा भी मानते हैं अतः जो भोग परमात्मा भोगता है उसे मुक्त जीव भी भोगता है। जैसा कि चतुर्वेद शिक्षा में कहा गया है कि "मैं जिन सुरम्य वस्तुओं को देखता हूँ जिन मनोरम शब्दों को सुनता हूँ" उन्हें ही ये मेरे भक्त शरीर छूटकर अनुभव करते हैं। भविष्यत् पुराण में भी इसकी पुष्टि की गई है। मुक्त जीव परम विष्णु को पाकर उनके भोगों के सहयोग से नित्य थोड़ा आन्नादि को भोगता भी है।[1]

मुक्त जीव भी ब्रह्म का सेवक उपासक और ब्रह्माधीन होता है। ब्रह्म या विष्णु के साथ सालोक्य प्राप्ति अर्थात् वैकुण्ठ लाभ ही मुक्ति है। मुक्ति केवल दुःखविमोचन ही नहीं होती। यह एक परिपूर्ण आनन्दमय अवस्था है। इनके मत का वैशिष्टय यह है कि जब जीव इस मर्त्यजगत् से मुक्त होकर चिन्तामात्र हो जाता है तब उसी रूप से देखता सुनता मनन करता विचार करता है। इसे ही मुक्ति कहते हैं।

---

1. मध्वाचार्य पूर्णप्रज्ञभाष्य ब्रह्मसूत्र 4/4/4

पंचम अध्याय

पंचम अध्याय

<u>दर्शन परम्परा में सृष्टि और उसका सत् तत्व</u> :-

समस्त शास्त्रों की संरचना वेदों पर ही आधारित है। अतः वेद ही सृष्टि तत्त्व के उद्गम स्थल हैं। प्रश्न यह है कि इस सृष्टि की रचना कैसे हुई? यह संसार कहाँ से आया इस तरह की जिज्ञासायें वेदों में की गई हैं। ऋग्वेद आदि ग्रन्थ माना जाता है उसमें ऐसी जिज्ञासायें की गई हैं। नासदीय सूक्त में पूँछा गया है कि कौन जानता है? कौन कह सकता है कि यह सृष्टि उत्पन्न हुई[1]? यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में भी अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त में सृष्टि की विवेचना प्राप्त होती है। वस्तुतः यदि घट निर्माण हेतु कुम्भकार न हो तो मृत्तिका होने पर भी घट का निर्माण नहीं हो सकता है।

सृष्टि निर्माण से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति किस अवस्था में थी, उसका रूप क्या था? सृष्टि निर्माण किसने किया? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वेदों में गम्भीरता से दिया गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इस दार्शनिक समस्या का समाधान बड़ी ही तात्त्विक दृष्टि से किया गया है। नासदीय सूक्त के विषय में पश्चिमी विद्वान् मैक्समूलर का कथन है कि इस सूक्त को परमात्मा ने ऋषियों पर अवतरित किया है। जैसे कि मन्त्र है--

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद् रजोनो व्योमा परोयत्।
किमारीवा कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गम्भीरम्।।[2]

---

1. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टि
ऋ0 10/129/6

2. ऋ0 10/129/3

इसका तात्पर्य यह है कि उस समय प्रलयकाल में न असत् था और न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा अन्तरिक्ष भी था। उस समय कहाँ क्या आच्छादित था? किसके आश्रय से था और क्या बहुत गम्भीर जल था[१]?

उस समय न मृत्यु थी तथा न किसी तरह का जीवन था, रात्रि-दिवस भी नहीं था। वह एक परमात्मा अपनी शक्ति से स्वधा प्रकृति के बिना प्राण वायु के साथ प्राणन कर रहा था उससे परे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं।[२]

उस समय कुछ अन्धकार था तथा अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रकृति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था, वह परमात्मा के तप से एक जैसी व्यक्त होने लगी।[३]

प्रलयावस्था के समय मन का रेत, जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ। मनीषियों ने मान लिया कि इस असत् में सत् छिपा हुआ था।[४]

इन तीनों का किरण तिरछा फैला, नीचे भी आश्चर्य कारी था वीर्य के धारण करने वाले थे। बलशाली जीव महान थे। इधर आत्मा की धारण शक्ति थी और पूरे प्रयत्न का बल था।[५]

वस्तुतः कौन जानता है? और कौन कह सकता है? कहाँ से निर्माण हुआ? और कहाँ से विविध सृष्टि हुई? देव भी बाद में बने हैं? अब कौन जान सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से हुई?[६]

जिससे यह विविध सृष्टि हुई, वही इसकी धारणा करता है जो परम व्योम है वही इसका अध्यक्ष है, उसको भिन्न जानो, यदि उसको न जानेगा तो बड़ी हानि होगी।

---

1. ऋग्वेद 10/120, 2
2. ऋ0 10/129/3
3. ऋग्वेद भाष्य भूमिका सृष्टि विद्या पृ. 131
4. ऋ0 10/129/4
5. ऋ0 10/119/5
6. ऋ0 10/129/6

वेद की तरह उपनिषदों में भी यह जिज्ञासा उपलब्ध होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में सृष्टि रचना का वर्णन इस तरह उपलब्ध होता है- उस ब्रह्म (निमित्तकारण) से जो अपनी स्वाभाविक ईक्षण शक्ति से आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि रूप नामा जगत् निर्मित हो जाता है। ब्रह्म ने सृष्टि रचना की। क्या सृष्टि उसके अन्दर थी, जो जादूगर की तरह उसने बाहर निकाल दिया। वह ब्रह्म सर्वव्यापक होने से समस्त जगत् का सर्वाधार है। ऐसा ही वेद भी स्वीकार करता है। उपनिषद् मन्त्र पर आर्यमुनि का विचार है कि परमात्मा से आकाश रूप द्रव्य उत्पन्न हुआ, यहाँ भूतों की सूक्ष्मावस्था से तात्पर्य या अवकाश प्रद वस्तु का नहीं, किन्तु सूक्ष्म रूप से सर्वत्र व्यापक द्रव्य का है। महर्षि दयानन्द का मत है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश जो कारण रूप सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वस्तुतः आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश से प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें।

मुण्डकोपनिषद् में भी सृष्टि रचना का प्रतिपादन कारण की दृष्टि से न करके निमित्त कारण की दृष्टि से किया जाता है। अपने प्रयत्न रूप तप से ब्रह्म को जानने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म इस सृष्टि को रचता है तब अपने प्रयत्न से सबको ज्ञात होता है। उस तप के परिणामस्वरूप ब्रह्म अन्न तक समस्त जड़ पदार्थों का निर्माण कर देता है। अन्न से प्राण आदि सभी गति करते हैं। प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश वायु, अग्नि, आप आदि की उत्पत्ति बतलाते हुए पृथ्वी विश्व को धारण बतलाते हुए अन्त में उत्पन्न हुई। जायते का अर्थ है- प्रादुर्भाव होना। प्रादुर्भाव से तात्पर्य सांख्य को सत्कार्यवाद संकेत रूप से प्राप्त है। इस उपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में ५,६,७ मन्त्रों में नाना वस्तुओं के निर्माण का संकेत करते हुए परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, दीक्षा, यज्ञ, संवत्सर आदि की उत्पत्ति का वर्णन है।

कठोपनिषद् में कार्य से कारण की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है, बुद्धि से ऊपर महत् तत्त्व है और महत् तत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति सूक्ष्म है। मन्त्र में सूक्ष्म ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि उस अव्यक्त प्रकृति से भी जड़ तत्त्वों का वर्णन स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। अन्तिम तो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अव्यक्त प्रकृति इस उपादान रूप प्रकृति से भी सूक्ष्म तत्त्व परमात्मा है। उसको जानकर ही हम अमृत को प्राप्त करते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में पाँच महाभूतों को, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और मन इन सबको देव नाम से कहा गया है। ऋषि दयानन्द भी चेतन और जड़ दो रूपों में देव शब्द का प्रयोग करते हैं। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश तथा इनके कारण तन्मात्रायें शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध आदि, जो महाभूतों के कारण हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में भी सर्गारम्भ का वर्णन मिलता है। इस उपनिषद् के ६,२,३ मन्त्रों में 'बहुस्याम' संकल्प पूर्व सर्गारम्भ का वर्णन आया है। सत्त्व रजस् तथा तमस् ये तीन त्रिवृत होते हैं। उपनिषद् में अग्नि का रोहित रूप तेज अर्थात् रजस् का रूप है। रजस् अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है। जिसे हम तेज कहते हैं वहाँ रजस् तमस तत्त्व आदि विद्यमान है। उपनिषदों की सृष्टि रचना का प्रभाव सांख्य दर्शन पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है। सांख्य दर्शन का स्रोत्र उपनिषद् ही कहे जा सकते है। सत्त्व रजस् तमस् गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कही जाती है प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्रायें है।

अद्वैत वेदान्त में सृष्टि के विषय में मतैक्य नहीं दिखाई देता। कुछ विद्वानों का कथन है कि जाग्रति कालिक घटादि के ज्ञानों की गति भी स्वप्न कालीन पदार्थों की गति के समान ही है। दृष्टि सृष्टिवादी जगत् को कल्पित सिद्ध करते हुए समस्त प्रपंच रूप जगत् की सृष्टि दृष्टि समकालीन ही मानते हैं। जो पदार्थ कल्पित है उनकी अज्ञानसत्ता नहीं हो सकती।

अद्वैत वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का निराकरण किया गया है वहीं शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। यहाँ आत्मरूपी परमार्थ सत्य को ही स्वीकृति मिली है। परमेश्वर द्वारा सृष्ट जगत् अज्ञात सत्ता से युक्त है। आवरणमंग द्वारा तत्तत् विषयों का अपरोक्षावभास होता है। अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है। प्रत्युत् सृष्टि ही दृष्टि की जननी है।

ब्रह्मवेत्ता गुरु के लिए जिज्ञासु शिष्य को परमात्मा की सत्यता का उपदेश देने के लिए अध्यारोपवाद एवं अपवाद सिद्धान्त की योजना अद्वैत वेदान्त की अनुपम देन है।

बौद्ध दर्शन भी जगत् की सत्ता परमार्थतः नहीं मानता है व्यवहारतः अवश्य मानता है। शून्य ही वहाँ परम तत्त्व है। अतः काल्पनिक जगत् की ही सत्ता है। अद्वैतवाद मत में परमार्थ सत्य ब्रह्म सत् है। शून्यवाद दर्शन में अनिवर्चनीयता से जिस सत् असत् सदसत् एवं अनुभयात्मक तत्त्व की ओर संकेत किया गया है, वह अद्वैतवादी के सत् ब्रह्म से भिन्न है। शून्यवाद में शून्यता को निर्वाण रूप माना जाता है। अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। अद्वैतमत में व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्थन किया गया है। अतः अद्वैतमत में मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता।

समस्त जड़ पदार्थ केवल भ्रममात्र या स्वप्न नहीं है। यथार्थतः उलब्ध विकार अथवा परिणाम हैं। जो कुछ इस संसार में अवलोकन कर रहे हैं, वह अनादि काल से अनन्तकाल तक सदा ऐसा ही बना रहता है। ऐसी बात नहीं है। कोई एक अवस्था अवश्य आती है जब दृश्य मान रूप में इसका आरम्भ हुआ था। उसके ठीक पहले ऐसी अवस्था न थी। वर्तमान स्थिति के अनुसार ऐसा अवसर आएगा जब इसकी अवस्था नहीं रहेगी, परन्तु इसका मूल उपादान अवश्य रहेगा।

इन दोनों अवस्थाओं में प्रथम अवस्था को सर्ग और द्वितीय अवस्था को प्रलय कहा है। सर्ग के आदि काल में संसार की वस्तुओं का विकास प्रारम्भ होता है। सृष्टि की युवावस्था आती है फिर प्रलय हो जाता है अर्थात् परमाणु विभक्त हो जाते हैं। संयुक्त होने पर सृष्टि और वियुक्त होने पर प्रलय यह क्रम अनादिकाल से चल रहा है। इसका प्रारम्भ सभी दार्शनिकों ने नहीं माना है। प्रारम्भ मानने पर दर्शन की अनेक समस्यायें उभर आती हैं जिनका उत्तर मिलना असम्भव सा लगता है। अतः इसका समाधान अनादिकाल से ही मानना उपयुक्त होगा। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसार की सत्ता सदैव बनी रहती है, उन वस्तुओं का रूप परिवर्तन हो जाता है, परन्तु सृष्टि तत्त्व का अभाव नहीं होता जैसे आज विज्ञान का सिद्धान्त है कि कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है जैसे लकड़ी हमने जलाई, वह पूर्णतः नष्ट नहीं होती जिन तत्त्वों से वह बनी थी उन्हीं में वह मिल गई। राख को हम खाद बनाकर डालते हैं, यह रूपान्तर होकर फिर आ जाती है। अतः इस परिवर्तन में वस्तुओं की सत्ता बनी रहती है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् वास्तविक सत्ता रखता है। वह किसी अन्येतर पदार्थ का विवृत न होकर अपनी कारणभूत प्रकृति का सत्कार्य है। उसकी सत्ता पराश्रय की अपेक्षा नहीं रखती। प्रकृति के सत् होने के कारण तज्जनित जगत् भी सत् है। परिवर्तन शीलता उसका धर्म है। इन अर्थों में वह अनित्य है। परिवर्तन का आधार भूत द्रव्य नित्य है। उसके अवयवों में पारस्परिक संयोग वियोग के कारणनवीनता आती रहती है। किन्तु आधारभूत द्रव्य में अपने में नित्य ही रहता है। महर्षि दयानन्द श्रुति के निम्न मन्त्र के आधार पर अपनी प्रकृति की सत्यता को प्रमाणित करते हैं कि

जो ब्रह्म और जीव दोंनो चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त मित्र तायुक्त सनातन अनादि है और वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि है। इन जीव-ब्रह्म में से एक जीव है, वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को अच्छे प्रकार से भोगता है। दूसरा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर भीतर-बाहर प्रकाशमान हो रहा है।

दयानन्द का मत है कि प्रकृति सत् है और उसका विचार संसार भी सत् है। परिवर्तनशीलता उसका धर्म अवश्य है किन्तु वह पारमार्थिक सत्य है। प्रश्न उठता है कि यदि यह सब जगत् नित्य है, तो प्रलयावस्था में अपनी सत्ता क्यों नहीं रखता? इसके उत्तर में दयानन्द का कथन है कि जगत् की सत्ता सब रहती है, किन्तु अपनी सूक्ष्मता के कारण वह अप्रसिद्ध होकर अन्धकार में आवृत रहता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार असत्यकार्यवादी जगत् है। यदि बीज से पहले अंकुर पहले से ही विद्यमान है तो उसकी उत्पत्ति कहना अनुचित ही होगा क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व जो वस्तु नहीं होती उन्हीं की उत्पत्ति देखी जा सकती है। परन्तु सांख्य इसका उत्तर देता है कि अव्यक्त से व्यक्त होने का नाम ही कार्य की उत्पत्ति है। दयानन्द सांख्य तथा न्याय वैशेषिक के मतों में समन्वय का प्रयास करते हैं। उनका मत है कि मौलिक विचारधारा जो दोनों दर्शनों में उपलब्ध है, उसका कोई विशेष अन्तर नहीं होता अपितु व्याख्या के प्रकार में अधिक अन्तर प्रतीत होता है। वे कहते है कि जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था, जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता।

इस तरह सत्यकार्यवाद तथा असत्कार्यवाद में कोई मौलिक विरोध नहीं है अपितु प्रक्रिया में अन्तर है। महर्षि दयानन्द परमाणुवाद और सांख्यों के प्रकृतिवाद का समन्वय करने का प्रयास करते हैं। उनका मत है कि अनादि नित्य स्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुण की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म बनते बनाते विचित्र सृष्टि कहलाती है।

महर्षि दयानन्द भी सांख्य की भाँति सृष्टि के क्रमिक उपादानों को चार विभागों में बाँटते हैं- १. अविकारिणी प्रकृति २. प्रकृति विकृति महत् तत्त्व और अहंकार तन्मात्रायें प्रकृति भी हैं और विकृति भी। महत् तत्त्व त्रिगुणामयी प्रवृत्ति सम्भव होने से विकृति है, किन्तु अहकारोद् भासिका होने के कारण प्रकृति और षोडशक (एकादश इन्द्रियाँ एवं पंच तन्मात्राओं) का उत्पादन होने के कारण विकृति भी हैं। इसी तरह पंचतन्मात्राओं अहंकार प्रसूत होने से विकृति भी हैं। किन्तु पंच स्थूलभूतों की उत्पादिका होने के कारण प्रकृति भी है। विकृति अहङ्कारौद्भूत एकादश इन्द्रियाँ केवल विकृति है। क्योंकि वे अन्य किसी पदार्थ के उत्पादिका होने से प्रकृति की कोटि में नहीं आती हैं। न प्रकृति न विकृति जीव ईश्वर न किसी की प्रकृति है, न किसी के विकार हैं वे सर्वथा शुद्ध सात्विक और निर्विकार हैं।

आचार्य रामानुज सृष्टि प्रक्रिया में परमात्मा को ही उपादान और निमित्त कारण मानते हैं। उनके मतानुसार प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था में परमात्मा को ही आश्रय बनाकर रहती है। अतः यह परमात्मा का स्वगत भेद भूत प्रकार या शरीर है। इनके अनुसार विशेषण-विशेष्य में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। गुणी गुण नहीं होता, और गुण गुणवान् पदार्थ से भिन्न होता है। अतः प्रकृति ईश्वर से भिन्न है तथा विशेषण रूप में अभिन्न भी।

२. जीवन और आत्मा की सद्रूपता और असद् रूपता के बीच मुक्ति की कल्पना

ऋग्वेद में एक ओर आत्मा शब्द का प्रयोग जगत् के मूल तत्त्व के लिए किया है और दूसरी ओर मनुष्य के प्राण वायु के अर्थ में। उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में मिलता है। उपनिषदों में यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष और आदित्य में रहने वाला ब्रह्म ही एक ही है।

छान्दोग्योपनिषद् के एक प्रसंग के आधार पर आत्मा के निम्नलिखित तीन रूप मिलते हैं–१.शारीरिक आत्मा २.जीवात्मा ३.सर्वोच्च आत्मा या परमात्मा।

शारीरिक आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए प्रजापति इन्द्र तथा विरोचन से कह रहे है कि अन्य पुरुष के नेत्र में पुरुष का दर्शन आत्मा का स्वरूप है और यह आत्मा, अमर तथा अभय है। उक्त विषय के सम्बन्ध में जब इन्द्र विरोचन प्रजापति से पूँछते है कि भगवन्! जल और दर्पण में दिखाई पड़ने वाली वस्तु क्या है? तो प्रजापति यही उत्तर देते है कि वह आत्मा ही जल में दिखाई पड़ता है। आत्मा के दूसरे स्वरूप जीवात्मा के सम्बन्ध में शिक्षा देते हुए प्रजापति कहते हैं कि वह आत्मा ही जल में दिखाई पड़ता है। आत्मा के दूसरे रूप जीवात्मा के सम्बन्ध में प्रजापति से कहते है कि स्वप्न जो आनन्द का अनुभव करते हुए विचरण करता है, वह आत्मा ही है। आत्मा के इस स्वरूप का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के एक तीसरे स्वरूप का निरुपण करते हुए प्रजापति, इन्द्र और विरोचन से कहते हैं कि यह जीव सुप्त रहता हुआ आनन्द की ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो उसे किसी स्वप्न सम्बन्धी विचार का ज्ञान नहीं होता। आत्मा का यही सर्वोच्च रूप है।[1]

1. दास गुप्ता, इण्डियन फिलासॉफी वालूम I पृ. 45

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा के अन्य पाँच रूप और मिलते हैं। यह पाँच रूप है- १. अन्नमय आत्मा २. प्राणमय आत्मा ३. मनोमय आत्मा ४. विज्ञानमय आत्मा ५. आनन्दमय आत्मा।

सभी मनुष्य अपने विषय में ऐसा व्यवहार मैं स्थूल हूँ मैं कृश हूँ इस वचन में मैं स्थूल तथा कृश के समानाधिकरण से भी इसी निर्णय पर पहुँचा जाता है कि देह ही 'मैं' अथवा आत्मा है क्योंकि स्थूलता आदि देह ही के धर्म हैं किसी दूसरे के नहीं। यह मेरा देह हैं- इस तरह के वचन भी आत्मा और देह के भेद को सिद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह तो इसी तरह एक होने पर भी गौण रूप से अद्वैत प्रतिपादक हैं जिस तरह राहु का सिर। न स्वर्ग नाम की कोई वस्तु है, न मोक्ष ही, न आत्मा और न परलोक। वर्णाश्रम धर्म की अनेक प्रकार की क्रियायें भी किसी तरह के फल को देने में सहायक नहीं है। जब तक जीवन है, तब तक सुखपूर्वक रहना चाहिए। सुख प्राप्ति के लिए यदि किसी से ऋण लेना पड़ जाए तो भी घृतादि के पान के लिए ले लेना चाहिए। सुख प्राप्ति के लिए दूसरे जन्म से डरना व्यर्थ है। क्योंकि जिस शरीर को मरने पर जला दिया जाएगा, वह लौट कर नहीं आ सकता।

भौतिक वादियों से लेकर अध्यात्मवादियों तक के विषय में जितने भी विचार हैं। वे संक्षिप्त रूप में इस तरह हैं-

१. यह शरीर ही आत्मा है, ऐसा चार्वाक आदि का मत है।
२. शरीर आत्मा नहीं, अपितु इन्द्रियाँ आत्मा है।
३. अन्य विचारक मन को आत्मा है।
४. बौद्ध लोग क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा स्वीकार करते हैं।
५. अन्य लोगों के मत में आत्मा शून्य हैं, यह माध्यमिक बौद्ध विद्वानों का मत है।[1]

---

1. देहमात्र चैतन्य विशिष्टात्मा इति प्राकृतजना- छा. उप.।
2. इन्द्रियाण्येव चैतन्यात्मेत्यपरे छान्दोग्योपनिषद्।

६. कुछ विद्वान् इसको कर्ता न मानकर केवल भोक्ता ही मानते हैं।

७. कुछ दार्शनिकों का विचार है कि आत्मा शरीर से भिन्न एक पदार्थ है, और वह कर्ता और भोक्ता है।

८. कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि मैं हूँ, मुझसे पृथक् एक अन्य महाशक्ति है जिसको ईश्वर कहते हैं।

९. प्रत्ययवादी (अध्यात्मवादी) मानते हैं कि जीव ब्रह्म है।

चार्वाक आदि दार्शनिकों का सिद्धान्त अन्य भारतीय आस्तिक दार्शनिकों को एकदम अमान्य है। उपनिषदें, जो आत्मतत्त्व का निरुपण और ब्रह्म प्राप्ति के साधनों का वर्णन करती हैं, उनका यह सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है। चार्वाक का देहात्मवाद सिद्धान्त मुख्य रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता वह उसी तत्त्व या पदार्थ को मान्यता देता है जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है। इसी बात का समर्थन कुछ सुसंस्कृत रूप में प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाट्सन ने यह कहकर किया था कि जो पदार्थ प्रयोगशाला में सिद्ध न किया जाए उसको नहीं मानना चाहिए। इसलिए उसने मन और आत्मा की सत्ता को मनोविज्ञान से निकालने का प्रयास किया था। इन दोनों का खण्डन सामान्य तर्कों से सरलता से किया जा सकता है। हमारा बाल्यकाल का शरीर यौवन के शरीर से भिन्न है। जैसे मुझे दूसरे के देखे हुए पदार्थों का स्मरण नहीं हो सकता, इसी तरह बाल्यकाल की घटनाओं का भी हमें स्मरण नहीं हो सकता। इसी तरह क्योंकि बाल्यकाल का शरीर यौवनकाल के शरीर से भिन्न है। यदि कहा जाए कि बाल्यकाल के संस्कार यौवन के शरीर में संक्रान्त हो जाते हैं इसलिए स्मृति हो जाएगी, यह कहना भी सभीचीन नहीं है। क्योंकि कारण का कार्य में संक्रमण नहीं हो सकता।[2]

---

1. शून्यमित्यपरे छा. 8/9/2
2. नान्यं दृष्टं स्मरत्यनयोर्नैकं भूतं प्रक्रमात्।
   वासनासंक्रमोनास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे।। न्याय कुसुमांजलि 1/15

जैसे माता की अनुभूति का गर्भस्थ शिशु को स्मरण नहीं होता। यदि कोई कहे कि उपादान कारण की वासना की उपादेयता का संक्रमण माना जाए। यह कहना उचित नहीं क्योंकि एक परमाणु पुन्ज की उत्पत्ति न होने से हाथ आदि का उपादान मानना पड़ता है हस्त आदि के कट जाने पर उस कटे हुए हाथ आदि से अनुभव किए हुए विषयों के खण्ड का शरीर को अनुभव नहीं हो सकेगा। खण्ड शरीर में कटे हुए हाथ के उपादन न होने के कारण दूसरा हेतु यह देते हैं कि बाल्यावस्था और युवावस्था के परमाणु एक ही होते हैं। परन्तु ऐसा मानने पर भी दो तरह के दोष आते हैं। प्रथम दोष यह है कि हम परमाणुओं को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि ये अतीन्द्रिय हो जायेगें।

यह भी दार्शनिक सिद्धान्त है कि शरीर को आत्मा न माना जाए तो इन्द्रियों को आत्मा मान लेना चाहिए। यह सिद्धान्त भी जड़ तत्त्व के समान हैं। इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि मैं वस्तु को चक्षु से देखता हूँ उसी को हाथ से छूता हूँ। इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों से भिन्न अन्य सत्ता है, जो दोनों पर नियन्त्रण रखता है, अर्थात् जिसको देखने और स्पर्श का ज्ञान हो रहा है क्योंकि आँख देख सकती है, छू नहीं सकती और हाथ स्पर्श कर सकते हैं देख नहीं सकते हैं। फिर यह ज्ञान किसको हो रहा है कि जिसको मैंने देखा उसी को छू रहा हूँ या मधुर वस्तु को देखकर जिह्वा में पानी क्यों भर आता हैं? इसी तरह की युक्तियों द्वारा आचार्य शंकर ने भी देहात्मवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस विषय पर आचार्य शंकर और न्यायदर्शन सहमत से प्रतीत होते हैं। हमें कितने भी ज्ञान प्राप्त होते हें, उनमें तीन बातें पायी जाती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। प्रत्यक्षतः जो स्मृति होती है। उसमें एक ही होना चाहिए, कई नहीं।

वे बिना कर्ता के भी नहीं हो सकती। अतः इन इन्द्रियों के द्वारा कर्ता एक ज्ञान प्राप्त करता है। अतः सिद्ध है कि स्मृति कर्ता के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। सर विलियम जैम्स की भी यही मान्यता रही है कि स्मृति यह सिद्ध करती है कि मैं हमशा हूँ। मै नहीं हूँ, यह कदापि स्मृति द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता।

मैं की सत्ता को वेद जो उपनिषदों के ज्ञान का आधार है स्वीकार करता है। वह मैं शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि से भिन्न है। वेदों में जीवात्मा का वर्णन अनेक रूपों या पद्धतियों से हुआ है। परन्तु जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन 'मैं' के रूप में भी हुआ है। ऋग्वेद में कहा है कि मैं नहीं जानता क्या मैं यही हूँ, जो स्थूल रूप में दिखाई देता हूँ अर्थात् शरीर हूँ। मैं तो सन्नद्ध होकर प्रयत्न के लिए उद्यत होकर मनन शक्ति के द्वारा गति करता है।[1] शरीर भौतिक होने में न स्वयं यत्न कर सकता है न वह ज्ञानवान् है। न ही उसमें स्वतन्त्र ज्ञानपूर्वक गति करने की शक्ति है। अग्रिम मन्त्र में कहा गया है कि आत्मा अमर्त्य अर्थात् मरणधर्मा नहीं है नित्य और अमर होता हुआ मरणधर्मा शरीर के साथ एक स्थानी होकर स्वधर्मा अर्थात् अपनी इच्छा से जकड़ा हुआ है। वह किसी वस्तु को ग्रहण करता है किसी के परे हटकर छोड़ देता है।[2]

आचार्य शंकर की एक कसौटी यह भी है कि शरीर स्थित आत्मा है या नहीं? उनका कथन है कि यदि किसी जीवधारी में ये तीन गुण करें, न करें, अथवा उल्टा करें (कर्तुम कर्तुममन्यथा कर्तुम्) प्राप्त हो तो समझ लेना चाहिए कि इनमें आत्मा है। व्यवहारवादी तो मानते हैं कि उत्तेजक के प्रत्युत्तर में प्रतिक्रिया अवश्य होती है।

---

1. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्- श्वेता. 4/5
2. न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुताश्चिन्न बभूव कश्चित्-
कठो. 2/18

इस पर आचार्य शंकर का कथन है कि मनुष्य किसी उत्तेजक क्षण का आत्मा दूसरे क्षण के आत्मा के भिन्न होने से पूर्वकाल की स्मृति नहीं हो सकती। अन्य के देखे हुए का अनुभव किए हुए पदार्थों का अन्य को स्मरण नहीं हो सकता। जब वह आत्मा रही ही नहीं तो जो जैसा करता है वैसा वही भोगता सिद्धान्त का खण्डन हो जाएगा तथा जिसने वह कर्म नहीं किया वह उसको भोगने लगेगा।[1] अतः आत्मा को प्रवाह का केवल पुंज मानने से स्मृति और मोक्ष आदि की समस्या का समाधान कदापि नहीं हो सकता है।

आत्मा का स्वरूप :- ऋषि दयानन्द शरीर से भिन्न आत्मा को शाश्वत नित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। न तो भौतिकवादियों की तरह आत्मतत्त्व को जड़तत्त्व से निर्मित मानते हैं और न ही जीवात्मा को मायोपहित चैतन्य के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। जीवात्मा के स्वरूप का उल्लेख उन्होंने उपनिषदों के मन्त्र तथा वेद के मन्त्र और अन्य दर्शनों के अनुसार किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रमाण देते हुए बतलाते हैं कि तीन अज अर्थात् नित्य हैं।[2] उनका जन्म कदापि नहीं होता है। उनमें अजा प्रकृति हैं, यह अजा जीवात्मा और त्रिगुणात्मिका प्रकृति हैं समस्त दृश्य जगत् निर्मित नहीं होता, उससे निर्मित पदार्थों का उपभोग नहीं करता है, वह परमात्मा है इस तरह ये तीनों प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज कहे गए हैं और तीनों जगत् के कारण है[3] अर्थात् जीवात्मा का कोई कारण नहीं अपितु जीवात्मा जगत् के कारणों में से एक कारण है।

यह आत्मा भौतिक तत्त्वों से निर्मित नहीं है। बल्कि अनादि है इस तथ्य की उपनिषदें स्पष्टतया घोषणा करती हैं। कठोपनिषद् स्पष्ट रूप से मान्यता देती है कि वह आत्मा न उत्पन्न होता है, न मारता है और न ही किसी अन्य वस्तु से बन सकता है। यह अजन्मा और नित्य है। सदा रहने वाला और पुराना है।

---

1. कृत प्रणाश–अकृतकर्मभोग–स्यादवाद मंजरी।
2. न जायते इति अजः। जीवश्च परमेश्वरश्च। न जायते इति अजा प्रकृतिः।
3. न विजानामि यदि–ऋग्वेद 10/164/36

शरीर के नाश पर उसका नाश नहीं होता है।[1]

छान्दोग्योपनिषद् भी यही स्वीकारता है कि जीव का विनाश कभी नहीं होता अपितु जीव शरीर से निकल जाता है। शरीर मरता है, जीवात्मा नहीं। वृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में जीवात्मा को नित्य और अविनाशी बतलाया गया है।[2] गीता में भी आत्मा को नित्य और शाश्वत माना गया है। यह आत्मा नित्य है। इसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु शुष्क नहीं कर सकती है। जैसे मनुष्य नये घर में प्रवेश करता है वैसे वही जीवात्मा भी नवीन शरीरों को प्राप्त करता है और पुराने वस्त्रों को छोड़ देता है। इस तरह आत्मा अनादि और नित्य है।[3] अथर्ववेद में भी परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर! मैं आपकी कृपा से अग्रिम जन्म में मन सहित ११ इन्द्रियाँ प्राणों को धारण करने, सामर्थ्य युक्तं आत्मा, धन एवं वेद का ज्ञान प्राप्त हो।[4] ऋषि दयानन्द आत्मा को नित्य और उसका पुनर्जन्म स्वीकार करते हुए वेद भाष्य में कहते हैं कि हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्रादि समस्त इन्द्रियों का स्थापन कीजिए। प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिए। यजुर्वेद कहता है कि है परमेश्वर जब जब हम जन्म लेवें तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु आरोग्य प्राण कुशलता युक्त जीवात्मा उत्तम चक्षु और स्रोत्र प्राप्त करें।

---

1. द्र. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 1/1/4
2. न वाअरे अहं मोहं ब्रवीम्यविकाशी वा अयम् आत्मानुच्छिवत्ति धर्मा वृह. 4/5/14
3. गीता 11/32, 15/58-59, 2-32
4. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्। ऋग्वेद 8-1 23।

इस तरह स्पष्ट है कि उपनिषदें एवं वेद जीवात्मा को नित्य एवं शाश्वत् और पुनर्जन्म होने वाली मानती हैं। निरुक्त में भी स्पष्ट उल्लेख है कि मृत्यु को प्राप्त होकर हम पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस तरह यह जीवात्मा नाना माताओं का स्तनपान करता है। यह जीवात्मा प्रभु भक्ति करने का अभिलाषा व्यक्त कर रहा है।[1]

इस तरह प्रमाणों से सिद्ध है कि उपनिषद् काल में जीवात्मा को अनादि माना जाता था। ऋषि दयानन्द भी उपनिषदों के प्रमाणों से यह सिद्ध करते हैं कि इसका प्रादुर्भाव न तो भौतिक तत्त्वों से हुआ है और न ही ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति हुई है। अतः जिस तरह ब्रह्म का कारण नहीं है। उसी तरह जीव का भी कारण नहीं है। जिस पदार्थ का कभी निर्माण नहीं होता वह विनष्ट भी कभी नहीं होता। इसीलिए ऋषि दयानन्द जीव को नित्य और अमर मानते हैं। वह इस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करता रहता है।

जैनमत के अनुसार जीवात्मा का परिमाण न अणु है न ही विभु अपितु मध्यम परिमाण है। जैनमत के अनुसार जीवात्मा लोकमित् प्रदेश है अर्थात् लोकांश के जितने प्रदेश हैं उतने ही प्रदेश आत्मा के भी माने जाते हैं। अतः लोक के समस्त प्रदेशों के साथ आत्मा प्रदेशों के साथ आत्म शक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से विभु व्यापक है। परन्तु व्यक्तिगत स्वरूप की दृष्टि से वह अपने पूर्वार्जित कर्म द्वारा प्राप्त अपने शरीर मात्र में सीमित होने से शरीर परिमाण मात्र वाला माना जाता है। स्यादवाद् मंजरी में प्रतिपादित हैं कि व्यक्तिरूप में आत्मा अपने शरीर मात्र में ही सीमित रहता है। यह अनुमान द्वारा प्रमाणित होता है क्योंकि उसके गुणों का प्रकाश उसके शरीर में ही होता है।

---

1. (क) मृतश्चाहं पुनर्जातः
   (ख) अवाङ्मुखः पीडयमानो निरु. अ. 13/6

मीमांसक मत में आत्मा के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल की दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। भाट्टमतानुसार आत्मा की सक्रियता को स्वीकार किया गया है। भाट्ट मीमांसक के अनुसार कर्म के दो भेद हैं- १. स्पन्दन २. परिणाम। आत्मा में स्पन्दन न होकर परिणाम होता है।[1] कुमारिल मत में परिणामी के नित्य होने से आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य है। भाट्टमीमांसक का आत्मा चिद्-चिद् विशिष्ट है। सुख-दुःख, इच्छा तथा प्रयत्नादि आत्मा के अचिदंश के परिणाम हैं।[2] भाट्टमीमांसक के अनुसार आत्मा में जड़त्व तथा चैतन्य दोनों अंश है। शरीर तथा विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य-उदय देखा जाता है तथा स्वप्नावस्था में विषय सम्पर्क से रहित होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रह सकता। यही आत्मा की जड़ावस्था है। वेदान्त का आत्मा चैतन्यस्वरूप हैं परन्तु मीमांसक कुमारिल के अनुसार आत्मा चैतन्य विशिष्ट है।

प्रभाकर का आत्मा सम्बन्धी मत कुमारिल मत से भिन्न है। कुमारिल की तरह प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। कुमारिल के अनुसार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। तथा उनके मत में आत्मा ज्ञान का कर्ता एवं विषय दोनों है, परन्तु प्रभाकर के मतानुसार आत्मा को 'अहं प्रत्ययवेद्य' कहा गया है। इस तरह प्रभाकर मीमांसक के अनुसार आत्मा के कर्तव्य के आधार पर उसमें अहंकार की कल्पना की गई है। वेदान्त दृष्टि से आत्मा में कर्तव्य-ज्ञातृत्व दोनों का समन्वय है।

इस तरह मीमांसक मत मे आत्मा को वेदान्त के समान स्वयं प्रकाश न मानकर मानस-प्रत्यक्ष का विषय स्वीकारा गया है।

---

1. यज्ञमानत्वमप्यामा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
   न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्।। श्लो. वा. पृ. 606
2. चिदंशेन द्रष्टव्यं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिंदशेन ज्ञानसुखादिरूपेण परिणाणामित्वम्। स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वैद्यः-अद्वैतब्रह्मसिद्धि-सदानन्द

आत्मज्ञान एक मानस प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अनुसार अहं चेतना के मन्थन एवं मनन के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व का बोध होता है। आत्मा, शरीर से भिन्न मनुष्य की अहं चेतना का आधार है। वस्तुतः आत्मा ही मन की चेतन तथा अचेतन अवस्था में 'अहं' के रूप में वर्तमान रहता हैं। प्रभाकर का कथन है कि वस्तु से ज्ञान के साथ ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है। इस दृष्टि के अनुसार आत्मा एवं वस्तु दोनों ज्ञान के साथ ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है। इस तरह आत्मा और वस्तु दोनों ज्ञान द्वारा प्रकाश्य हैं। उदाहरणार्थ जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उस वस्तु के ज्ञान के प्रकाश में ज्ञात रूप में आत्मा का भी ज्ञान होता है।

बौद्धों का अनात्मवाद सिद्धान्त आत्मा की सद्रूपता व असद्रूपता दोनों का खण्डन करता है। उपनिषद् आत्मा को जैसे कि नित्य एवं ध्रुव मानते हैं जबकि बुद्ध अनात्म अनित्य व अध्रुव के पक्ष पर हैं। बुद्ध का कथन है कि रुप वेदना संज्ञा विज्ञान ये सभी धर्म अनात्म है। आत्मवाद के लिए बुद्ध ने सत्काय दृष्टि शब्द का व्यवहार किया है। सत्काय का अर्थ है काया में विद्यमान, काया से भिन्न अजर एवं अमर तत्त्व। सत्यकाय दृष्टि को बुद्ध एक भारी बन्धन के रूप में उसकी भर्त्सना करते थे। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए सत्काय दृष्टि का विनाशक आवश्यक समझते थे। मज्झिम निकाय में आत्मवाद पर घोर कटाक्ष करते हुए बुद्ध कहते हैं, जो मेरा यह आत्मा अनुभवकर्ता अनुभव का विषय है, वह मेरा आत्मा नित्य ध्रुव शाश्वत एवं अनन्त है। हे भिक्षुओं, यह केवल बालधर्म अर्थात् मूर्ख विश्वास है। इस तरह बुद्ध आत्मवाद के घोर विरोधी थे।

३. मनुष्य जीवन में मुक्ति का महत्त्व

मानव जीवन दुःख सुख के चक्र में अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करके भी अन्ततः सुख की कामना करता है। कोई भी व्यक्ति सुखाभिलाषा से किसी विपत्ति ग्रस्त कार्य को भी करने हेतु तैयार हो जाता है। सभी लोग अन्ततः सुख को चाहते हैं। जैसे हमें छत पर पहुँचने पर सर्दी में धूप लेने से सुख मिलता है। छत की सीढ़ियों पर चढ़ने में थोड़ा कष्ट होता है लेकिन छत पर पहुँच जाने पर सुख ही सुख मिलता है। इसी तरह जीवन में अनेक कठोर आचार संहिताओं का पालन करने में कष्ट होता है, मनुष्य जीवन आज विविध आधुनिक सुखकारी संसाधनों के माध्यम से सुखमय हो गया है। कोई भी व्यक्ति थोड़ा सा यदि पैदल चलता हो, और किसी का वाहन मिल जाए तो उसका प्रयोग करने में सुख समझता है। जबकि वह बिना वाहन के भी पहुँच सकता है उसमें जो थोड़ी सी शारीरिक श्रान्ति होगी, उससे वह बचेगा। इस तरह स्पष्ट है कि जैसे मानव भोतिक सुख प्राप्ति हेतु सतत उद्यत है वैसे ही आध्यात्मिक सुख मोक्ष प्राप्ति हतु उतना उद्यत क्यों नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है कि भौतिक सुख ऐहिक है तथा आध्यात्मिक सुख परलौकिक हैं। ऐहिक सुख स्वयं साक्षात् उपभुक्त होते हैं तथा आध्यात्मिक सुख अदृश्य होते हैं। आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त दुष्कर है। ऐहिक सुख को ही कुछ मानव उत्कृष्ट सुख मानने लगते हैं। उन्हें घर में सभी तरह की सुख-सुविधाओं के होने से परम सुख का अनुभव होने लगता है। लेकिन वे कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। मोक्ष के लिए सर्वप्रथम मनुष्य को ऐहिक वासना, आशक्ति तथा स्वार्थगत भावनाओं का परित्याग आवश्यक है। परार्थ समर्पण से भी मोक्ष भावना को बल मिलता है।

'मोक्ष सिद्धान्त' मानव जीवन की परिपूर्णता है। परिपूर्णता का अर्थ यह है कि मानव जीवन से मुक्त होकर देवत्व को अग्रसर होना। जब हम अपने जीवन में विविध प्रवृत्तियों को अपनाते हैं, जिनके माध्यम से निरन्तर उन्नति कर सुख प्राप्त करते हैं, फिर भी चरम उन्नति प्राप्त नहीं कर पाते। चरम उन्नति का अर्थ है, जीवन के सर्वोच्च्व पद मोक्ष को प्राप्त होना। सर्वोच्च्व पद मोक्ष की जिज्ञासा भी आज किसी किसी व्यक्ति को ही उदित होती है। वैज्ञानिक एवं भौतिक सुखसाधनों की चकाचौंध में मोक्ष का पाना कहाँ सम्भव है। मोक्ष की तैयारी सबसे कठिन कार्य है। जो शास्त्रों में मोक्ष के विभिन्न दार्शनिक स्वरूप को जानते हैं उनके अन्दर किसी स्तर तक मोक्ष के प्रति कितनी श्रद्धा हैं? इसे भी परखने की आवश्यकता है, फिर जो मोक्ष सिद्धान्त को बिल्कुल नहीं जानते हैं, उनकी स्थिति मोक्ष के विषय में कैसी होगी? वस्तुतः मोक्ष भावना के लिए पहले स्वस्थ मानसिक स्थिति, सांसारिक जीवन में स्वार्थगत भावनाओं की तिलाञ्जलि आवश्यक है। जहाँ प्रतिक्षण अपने ही विकास की ओर सतत ध्यान है, वहाँ मोक्ष की भावना उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

मोक्ष का महत्त्व मानव जीवन में सर्वोपरि है। मोक्ष की भावना पर बल देने पर समस्त विकारों व समस्त आग्रहों से मुक्ति आवश्यक है। आग्रह–दुराग्रह वितैषणा, सांसारिक उन्नति, ईर्ष्या राग–द्वेष मोह आदि से परे होना जरुरी है, तभी हम मुक्ति की ओर अपनी योजना बना सकते हैं।

४. दर्शन और मुक्ति दृष्टि का महत्त्व

प्रत्येक शास्त्र ने मोक्ष के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। वेद एवं वेदान्त ही मोक्ष के स्वरूप को व्यक्त नहीं करते बल्कि साहित्यशास्त्र भी मोक्ष की दार्शनिक दृष्टि को पुष्टि करता अधिकारी है। सद्यः परनिर्वृति को मम्मट ने जीवन का परम पुरुषार्थ व्यक्त किया है। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को सफल व धन्य बनाने के लिए मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर हो। जीवन की समस्त उन्नति व्यर्थ है जब तक मोक्ष भावना का उदय न हो। मोक्ष भावना के बिना समस्त भावनायें व्यर्थ हैं। तथा यह जीवन अधूरा है। अतः इसी से सांसारिक अशान्ति व कलह द्वन्द्व संघर्ष युद्ध व आन्दोलन की निवृत्ति हो सकती है। मोक्ष भावना अपनाने पर कल्याण हित की भावना अपने आप आ जाएगी। अतः परस्पर मैत्री, परोपकार व निःस्वार्थ प्रेम की भावना जगाने से ही मोक्ष भावना को बल मिलेगा।

दुःख निवृत्ति प्रत्येक मनुष्य चाहता है। किन्तु उसके पहले दुःख के कारकों को समझना आवश्यक है। दुःख चाहे आध्यात्मिक हो, आधिभौतिक हो या आधिदैविक हो उन सभी के निवारणार्थ शास्त्रों व गुरुजनों का सहारा लेना चाहिए।

उपनिषद् मोक्ष सिद्धान्त पर बल देते हैं- 'सर्वान कामान् अश्नुते' इससे निरतिशय सुख की उपलब्धि दिखाई है। यजुर्वेद और ईशोपनिषद् में स्पष्ट किया है कि वहाँ अर्थात् मोक्षावस्था में मोह अर्थात् शोक नहीं रहता। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इन उक्त दोनों प्रकार की भावनाओं की सातिशयता को दर्शाया गया है। यह सब कामनाओं को पूर्ण कर लेता है। वह निर्भय हो जाता है। अमृत को प्राप्त कर लेता है।

सभी वैदिक एवं अवैदिक दर्शन आनन्द सुखानुभूति पर बलदेते हैं केवल शब्द, सिद्धान्त तर्क व मुक्तियों में अन्तर है। कुछ दर्शन मोक्षार्थ को अन्य प्रकार से व्यक्त करते हैं।

चार्वाक तथा अन्य जड़वादी दार्शनिक केवल लौकिक सुखों को ही अन्तिम मान उनकी प्राप्ति को ही पुरुषार्थ मानते है। परन्तु यह अनुभव

परन्तु यह अनुभव मानता है कि आत्मा नित्य होने के कारण सांसारिक सुखों से भी आगे जो सबसे बड़ा जन्म-मरण का दुःख है, उससे छूटना चाहते हैं। क्योंकि सांसारिक भोगों में तो अन्त में दुख ही छिपा रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त जीवात्मा अपना विकास करके मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहती है। यहाँ से विकास से अभिप्राय भौतिक विकास से नहीं है अपितु संसार के संसर्ग से रागद्वेष आदि दोष आ जाते हैं उनसे छुटकारा पाकर ब्रह्म की प्राप्ति करनी है। इसी को हम दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते है कि जीवात्मा स्वतन्त्र होना चाहता है। इस स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा का नाम ही मोक्ष अथवा अमृत हो जाता है। इसे गीता में परमधाम या परमपद कहा है। इस परमपद का अभिप्राय भौतिक अर्थ में नहीं, यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्ततृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा हो जाती है। सांसारिक समस्त बन्धन छूट जाते हैं और समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं[1] तथा जन्म मरण का चक्र छूटकर वह परमधाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस मोक्ष की धारणा से कुछ चिन्तक इस भ्रम से ग्रस्त हो जाते है कि मोक्ष कोई स्थान विशेष है वहाँ जीवात्मा को भेज दिया जाता है। परन्तु उपनिषदों में या भारतीय षड्दर्शन और वैदिक साहित्य में भी मुक्ति, किसी स्थान विशेष पर जाना नहीं है अपितु जीवात्मा की स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा है। वह ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी है, उसको प्राप्त करके जन्म मरण के बन्धनों से छूट करके जीवात्मा स्वतन्त्र विचरता है। उस अवस्था का नाम वेद में अमृत कहा गया है। भारतीय नास्तिक दर्शनों में जैन और बौद्ध जो ईश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते वे भी मोक्ष को स्वीकार करते हैं। जैनों के यहाँ मिथ्या दर्शन बन्ध के कारण हैं उनका निरोध संवरकर लेने पर नये कर्मों का अभाव होने पर निर्जरा रुपी कारण के सम्पर्क से पूवार्जित कर्मो का विनाश हो जाता है। तभी सभी तरह के कर्मो से मुक्ति मिलती है जैन आचार्य पद्मनन्दी कहते हैं कि सूर्यचन्द्रादि ग्रह तो जानकर लौट आते हैं परन्तु लोक से परे जो आकाश है, उसमें गये हुए मोक्षात्मा आज तक नहीं लौटे है।

---

1. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। म. उ. द्वितीय मुण्डक

बौद्ध दर्शन भी मोक्ष को स्वीकार करता है। बौद्धदर्शन में मुक्ति के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ वासना की अग्नि बुझ जाना है। इसके अनुसार जब हमारे अन्दर से कामासव, भावासव और अविद्यासव आदि की अशुद्धियाँ समाप्त हो जाती हैं तव पुनर्जन्म नहीं होता। निर्वाण को बौद्धदर्शन में शीतीभाव अथवा शीतलता की अवस्था कहा है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण के दो रूप प्रतिपादित हैं। सोपाधि और अनुपाधि निर्वाण। प्रथम पुनर्जन्म के कारण कुछ अवशिष्ट रहते हैं। द्वितीय में पूर्ण बुझा हुआ माना गया है। परन्तु जीवात्मा का अभाव नहीं होता है।

कुछ मीमांसकों के अनुसार धर्म-अधर्म का सम्बन्ध नहीं रहता। इस पर दूसरे विचारकों की उत्पत्ति यह है कि मुक्तावस्था में जब सब धर्म नष्ट हो जाते हैं तो मुक्त व्यक्ति को किसी तरह के आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। इसका उत्तर यह है कि मुक्तास्था में न आनन्द का अनुभव होता है और न ज्ञान का। आनन्द का अनुभव करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है परन्तु इन्द्रियाँ मोक्षावस्था में नहीं रहती। निषिद्ध काम्य दोनों कर्म नष्ट हो जाते हैं।

न्यायदर्शन में मोक्ष को दुःख के पूर्ण अभाव की अवस्था माना है। भाष्यकारों ने कहा है कि दुःख से मनुष्य तभी छूटता है। जबकि वह ग्रहण किए हुए जन्म को छोड़ देता है। सुख की अवस्था मुक्ति में ये युक्तियुक्त नहीं मानते है। यहाँ नित्य सुख की प्राप्ति होती है, यह किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता है। नित्य सुख की प्राप्ति में कोई हेतु होना चाहिए।[2]

---

1. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः।
   अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः।। प. न. आ.
2. नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते तेन अभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यते। तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानम्। न्यायवार्तिकः वात्स्यायन भाष्य अ. 1 आ. 1 सू. 22।

यदि वह सुख नित्य होगा तो वह सुख हमें भी प्राप्त होना चाहिए। यदि अनित्य होगा तो मुक्तावस्था में भी नहीं होगा। इस तरह भाष्यकार मोक्ष में सुख का प्रत्याख्यान करते हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार जब तीनों दुखों का अत्यन्त नाश हो जाता है तो आत्मा की कृतकृत्यता होती है।[1] इसके अनुसार आत्मा को प्रकृति के सम्पर्क में आना शरीरादि को धारण करना भोग अपवर्ग के लिए होता है। भोगों का उपभोग कर्ता आत्मा अध्यात्मक की ओर प्रवृत्त होने पर जब अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तो कृतार्थ हो जाता है। प्रकृति में आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर प्रकृति से आत्मा का सम्बन्ध छूट जाता है। जब दुःखों का भी आना जाना हमेशा के लिए छूट जाता है, इस पर आक्षेप किया जा सकता है कि दुःख निवृत्ति के साथ सुख भी चला जाता है। तब दुःख निवृत्ति को मुक्ति न मानकर सुख प्राप्ति को मोक्ष क्यों न माना जाए? इस आपेक्ष का उत्तर यह दिया जा सकता है कि जिस तरह व्यक्ति को दुःख से द्वेष होता है उसी तरह अभिलाषा सुख को पाने की नहीं होती। संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख पाते हैं। अतः मनुष्य चाहता है कि दुःख दूर हो जाए।

योगदर्शन के अनुसार बुद्धि और पुरुष के शुद्ध होने पर मोक्ष होता है। जब बुद्धि तीनों गुणों के सम्पर्क से छूट जाती है अथवा छूटकर पवित्र हो जाती है। उस समय पुरूष में अपने स्वरूप में ठहरने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही कैवल्य है। यह लक्षण जीवन्मुक्त का प्रतीक होता है। जब योगी के सत्व रजस् और तमस् आदि गुण अपने कारणों में लीन हो जाते हैं, अथवा पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं, तब चित्ति शक्ति स्थिर होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाती है, यही मोक्ष है। उक्त दोनों दर्शनों का एक ही प्रधान लक्ष्य है दुःखों से छूटना। इसलिए योग दर्शनकार ने योगी को अधिकल्प कहा है और परिणाम में सब विवेकियों को बतलाया है कि समस्त संसार दुःखमय है।

---

1. अत्यन्त दुःख निवृत्या कृतकृत्यता सां. द. 6.5।
2. यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न सुखादभिलाषः सां. 6/6
3. तदा द्रष्टुः स्वरुपेऽवस्थानम् यो. द. सां. कारिका 1/3

को अवश्य करना चाहिए। अन्यथा विशिष्टाद्वैत के अनुसार उनके न करने से प्रत्ययवाय (पाप) उत्पन्न होगें और वे अपने विपाकों से जीवात्मा को पुनः संचरण के लिए बाध्य करेगें। इस तरह मानव को अपने जीवन में अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों के प्रति थोड़ा सा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए तभी वह मोक्ष का आनन्द ले सकता है।

मनुष्य को यह भी समझना चाहिए कि मोक्ष शरीरपातान्तर ही सम्भव है। अतः शरीरासक्ति का भाव परित्याग सर्वथा अपेक्षित है। हम लोग अपने को शरीर से चिपकाकर न रहें। क्योंकि शरीर पातासन्न (मुमुक्षु) की वाक् शक्ति का मन में लय होता है उसी तरह समस्त ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ मन के साथ अविभक्त हो जाती हैं। इन सबसे संयुक्त मन प्राण में और प्राण आत्मा में होती हुई शरीर का परित्याग कर देती है और अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त करके अग्नि लोक, वायु लोक, आदित्य लोक, वरुण लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोक एवं ब्रह्म लोकों से होती हुई शाश्वत वैकुण्ठ लोक में पहुँच जाती है।[1] यहाँ परमात्मा अपनी श्री के साथ वास करते हैं।

ब्रह्म लोक या वैकुण्ठ में आत्मा पंचरूप मोक्ष को प्राप्त करती है। रामनुज ने श्रीमद् भागवत पुराणोक्त मोक्ष को स्वीकार किया है।[2] पंच रूप मोक्ष भागवत पुराण में इस तरह प्रतिपादित है- १. सलोक्यमुक्ति २. सादिष्ट मुक्ति ३. सामीप्य मुक्ति ४. साधर्म्य मुक्ति ५. सायुज्य मुक्ति।

रामानुज, शंकर की भाँति जीव और ब्रह्म का पूर्ण निलय स्वीकार नहीं करते। क्योंकि रामानुज की दृष्टि में जीव ब्रह्मांश होकर भी ब्रह्म नहीं है। अतः उसका निलय ही सम्भव नहीं है। रामानुज का मत है कि मुक्त आत्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है, यद्यपि उसके साथ तद्रूपता नहीं।

विशिष्टाद्वैत की दार्शनिक दृष्टि अन्य दर्शनों से मिलती है। उनके अनुसार मुक्त आत्मा कर्म के अधीन नहीं रहती।

---

1. न्यायसिद्धान्त पृ0 328।
2. श्रीमद्भागवत पुराण 3/29/13।

इसी अर्थ में उसे स्वराट् कहा गया[1]।

गीता का भी कथन है कि कर्मों की उन्नति से प्राप्त स्वर्ग जीवात्मा के कर्म फलों के नष्ट हो जाने पर छूट जाता है और पुनः इस सांसारिक व्यूह में फंसना पड़ता है। जो भक्ति से ब्रह्म की प्राप्ति इच्छा करता उसे ब्रह्म प्राप्त हो जाने पर न केवल ब्रह्म का मैत्रभाव (भोग) उपलब्ध होता है प्रत्युत उसका पुनः जागतिक संस्मरण भी नष्ट हो जाता है[2]। कुछ दार्शनिक आत्माओं की अनेकता को स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार आत्माओं का यह आनेक्य गुणात्मक न होकर गणनात्मक ही होता है। गुणात्मक दृष्टि से सभी आत्मायें ब्रह्मानन्द का समान रूप में भोग करने के कारण समान है।

महर्षि दयानन्द की मोक्ष विषयक दार्शनिक दृष्टि वेदानुप्राणित तो है फिर भी उनकी व्याख्या से अन्य वेदानुयायी दार्शनिक सन्तुष्ट नहीं है। दयानन्द दुःखों से निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। इस मत की पुष्टि के लिए वे सांख्य सूत्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि आध्यात्मिक अर्थात् शरीर पीड़ा, आधिभौतिक जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होता है और आधिदैविक जो अतिवृष्टि अतिताप एवं अतिशीत तथा मनादि इन्द्रियों के चाञ्चल्य से होता है- ऐसे त्रिविध दुःखों को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है क्योंकि दुःख अविद्या के कारण होते हैं। अतः प्रकारान्तर से अविद्या से परिनिवृत्ति ही मोक्ष है। अविद्या ही जीव के बन्धन का हेतु है। दयानन्द के अनुसार भौतिक सूक्ष्म शरीर का संग मात्र मृत्यु तक ही होता है। अपने मत की पुष्टि में शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं

---

1. कर्मवश्यो न भवतीत्यर्थः श्रीभाष्य, श्रुतप्रकाशिका 1,1,1 पृ0 40।
2. अल्पस्थिरस्वर्गादीननुभूयः पुनर्निवर्तन्ते गीता। रामानुज भाष्य 9/2

मोक्ष में भौतिक शरीर की इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। इस मत में दयानन्द ने जैमिकि बादरायण, कठोपनिषद् तथा छान्दोग्य आदि को उद्घृत किया है। जिसमें जीव की शुद्धि शुद्ध सामर्थ्य की स्थिति का कथन किया गया है।

इस तरह स्पष्ट है कि वेद, उपनिषद् सांख्य, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, योग आदि ६ दार्शनिकों तथा बौद्ध जैम एवं चार्वाक, आदि ने अन्ततः दुःख निवृत्ति तथा परमार्थ सत्य के रूप में मोक्ष को निरूपित किया है। यदि मोक्ष परमानन्द या ब्रह्मप्राप्ति है तो वह बिना क्लेश-प्रहाण के सम्भव नहीं है। अतः सभी दर्शन सांसारिक कर्म-बन्धन की समाप्ति होने पर बल इसीलिए देते हैं कि जिससे मानव अपना परमाभ्युदय कर सकें।

दर्शनशास्त्र निश्चित तौर पर मानव जीवन के उत्कृष्ट अभ्युदय में निरन्तर प्रयास किया। प्रत्येक दार्शनिक की यही कोशिश रही कि मनुष्य सासांरिक विषय वासनाओं से ऊपर उठकर तथा सामाजिक अभ्युत्थान को अग्रसर होकर अन्ततः अपने श्रेष्ठ आदर्श कर्मों के माध्यम से ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हुए उसी में अपना विलय करें। जिससे कि वह देव कोटिक होकर देवसदृश सुख का अनुभव कर सके यही दर्शन शास्त्र की मोक्ष दृष्टि का स्वारस्य है।

५. समीक्षा एवं निष्कर्ष

उपरिलिखित अध्यायों में भारतीय दर्शन की विविध दृष्टियों से मोक्ष की अवधारणा पर विचार किया गया। वैसे संक्षिप्त शब्दावली में यदि कहा जाए तो शब्दावली या परिभाषा मोक्ष के सन्दर्भ में भले ही पृथक्-पृथक् हो किन्तु सभी दर्शन मानव के अभ्युदय व निःश्रेयस् की प्राप्ति हेतु बल देते हैं। निःश्रेयस् परम आनन्द ही मोक्ष है। लौकिक बन्धनों, दुःखों से मुक्ति सभी दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य है। हमारे ऋषि महर्षियों का दिव्य ज्ञान भण्डार ही अज्ञानतम के निराकरण करने में सक्षम है। वेद जिन विषयों को सूत्र रूप में प्रतिपादित करता है उपनिषद् उन्हें अन्तर्मुखी बनाकर प्रतिष्ठित करता है।

समस्त दर्शन लौकिक सुख-आकांक्षाओं व विलासिताओं से मानव को दूर करना चाहते हैं, क्योंकि यही सब दुःख के हेतु हैं। उपनिषद् का आत्मसिद्धान्त बड़ा ही व्यापक व असीमित है। आत्म सिद्धान्त से मनुष्य को अपने शरीर व भौतिक सुख के प्रति आसक्ति छोड़ना सर्वप्रथम मोक्ष प्राप्ति हेतु आवश्यक है। सांसारिक माया जाल, परिवार क्षेत्र के प्रति ममत्व व विषयासक्ति मोक्ष मार्ग के बाधक तत्त्व हैं। इनका परिहार जब तक व्यक्ति नहीं कर पाता तब तक उसे मोक्ष का मार्ग खोजने पर भी नहीं मिलेगा। बौद्ध भी पंच शिक्षाओं का उपदेश करते हैं। प्राणियों की हिंसा न करना, असत्य से दूर रहना, चोरी न करना, सुरा का प्रयोग न करना, काम मिथ्याचार से विरत रहना इसका मोक्षमार्ग पर जाने हेतु प्रारम्भिक तौर पर पालन आवश्यक है। दुःख बौद्धदर्शन का मूल तत्त्व है। दुःख का उन्मूलन अष्टांगयोग से ही सम्भव है। तभी निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है यह बौद्ध दर्शन की मोक्ष दृष्टि है।

जैन दर्शन में यद्यपि दुःख का इतना पूर्ण निदान नहीं मिलता। फिर भी उसकी साधना लक्ष्य दुःखनिवृत्ति रूप कैवल्य की प्राप्ति है। वैदिक दर्शनों (आस्तिक) में विचार वैषम्य परिलक्षित होता है तथापि मोक्ष मार्ग पर सभी एक मत दिखाई देते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शनों की आत्मा का चैतन्य नित्य गुण नहीं है। अतः इसके अनुसार मोक्ष एक चेतनातीत अवस्था है। इन दर्शनों ने भी निषेधात्मक रूप में दुःख निवृत्ति को मोक्ष माना है। न्याय दर्शन में इसे अपवर्ग कहा जाता है। जब कि सांख्य योग उसे कैवल्य शब्द से कहता है। वेदान्त आनन्दस्वरूप मोक्ष की अवस्था पर बल देता है। दर्शन शास्त्र ने ही जीवन को दुःखों से परिपूर्णता का सच्चा अनुभव किया। दर्शन में प्रतिपद संवेदन शीलता है। दर्शन ही आध्यात्मिक व व्यावहारिक जीवन के बीच की खाई को मिटा देता है। दुःख भोग से ही मनुष्य कर्म व पुनर्जन्म के चक्र में फँसता है। इससे मुक्त होना ही जीवन का लक्ष्य है। मोक्ष की अवधारणा ही जीवन चक्र की गति को रोकती है। जीवात्मा इस संसार में तब तक भटकता रहेगा जब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेगा। मोक्ष ज्ञान, कर्म व आनन्द का समन्वय ही है। इस मत की अपेक्षा करने से ही सांख्य व न्याय दर्शन उतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सके, जितनी कि वेदान्त को प्राप्त हुई।

संसार का निरपेक्ष पुरुष व न्याय वैशषिक का अचेतन मोक्ष हमें अधिक संतोष नहीं दे सकता। मोक्ष का ऐसा स्वरूप है जो जीवन की सीमाओं व दुःखों का समाधाम होने के साथ-साथ ज्ञान भावना तथा कर्म से उसका सामञ्जस्य हो। तभी वह सर्वमान्य हो सकता है।

मानव जीवन को बाह्य रूप में जब तक नहीं माना जाएगा तब तक उससे छुटकारा नहीं मिलेगा। अन्तर्वर्ती रूप आत्म तत्त्व है। आत्म तत्त्व सत्य, शुद्ध, नित्य व अविनाशी है।

इसी के द्वारा ब्रह्मानन्द की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

चार्वाक दर्शन में आत्मा को नित्य नहीं माना गया है। यह एक आगन्तुक गुण है। यह भौतिक तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न होता है। देह समाप्ति होने पर इसका अन्त होता है। अतः उनके मत में मरण ही मोक्ष है। वैसे यह दर्शन भी जीव की अन्तिम स्थिति से मुक्ति दिलाता है किन्तु ऐहिक सुख की यह उपेक्षा नहीं करता है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' के अनुसार खूब मौजमस्ती पर जोर देता है। यह पुनर्जन्म को इसलिए नहीं मानता कि वह प्रत्यक्षता अनुभूत नहीं होता। आज तक कोई भी व्यक्ति यह प्रमाणित नहीं कर सका कि मेरा पूर्वजन्म वहाँ हुआ था या वर्तमान व्यक्ति अपने भावी जन्म की स्थिति की घोषणा भी नहीं कर सका।

न्याय दर्शन ने बारह तथा वैशेषिक ने सात पदार्थों के माध्यम से सम्यक् ज्ञान द्वारा मोक्ष को सम्भव माना है। मीमांसा दर्शन कर्मकाण्ड होने से आरम्भ में 'स्वर्ग कामो यजेत्' द्वारा स्वर्ग को ही परम साध्य मान लेता है। पुनः न्याय वैशेषिक की भाँति अपवर्ग को ही परम साध्य मान लेता है। उनके अनुसार कर्म का अभिप्राय वेद निहित कर्म है। इसमें कर्तृत्व भाव नहीं रहता है। अतः केवल धर्म से ही अपवर्ग मिल जाता है। मीमांसा व न्याय में विदेह मुक्ति धारण की प्रधानता है।

भावरूप मोक्ष की प्रधानता वेदान्त की अपनी विशेषता है। अद्वैतमत के अनुसार मोक्ष केवल आत्मा के चित् स्वरूप की स्थिति नहीं बल्कि उसके सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार भी है। यह शुद्ध चैतन्य अनन्तानन्द की स्थिति है। इसे ब्रह्मभाव की स्थिति भी कहा जाता है। यही आत्मा की नित्य व मूल दशा है। जो अविद्या की वजह से अज्ञात रहती है। ज्ञान के प्रकाश से अविद्यान्धकार निवृत्त हो जाता है

तथा आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। अतः केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति होती है।

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म के साथ आत्मा का तादात्म्य अनुभव नहीं किन्तु जीव को वे ब्रह्म का अंश मानते हैं। अतः जीव के द्वारा वे ब्रह्म के साथ साक्षात्कार को मोक्ष मानते हैं। रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित विशिष्टाद्वैत दर्शन में मोक्ष आत्मानुभव रूप न होने से सम्भव नहीं माना जाता। इसका सर्वोत्तम साधन भक्ति तथा उपासना है। ज्ञान को ये भक्ति का सहकारी मानते हैं। वे भक्ति द्वारा उत्पन्न प्रपत्ति को परम साधन के रूप में स्थापित कर उसी के द्वारा मोक्ष लाभ को सम्भव मानते हैं। विशिष्टाद्वैत से मिलता जुलता विचार निम्वार्काचार्य का भी है। वे जीव का ब्रह्म के साथ भेद व अभेद दोनों स्वीकार करते हैं। मोक्ष की दशा में जीव परमात्मा के साथ अंशतः स्थित रहता है। भौतिक शरीर का अन्त होने पर भी चेतन अंश का अभाव नहीं रहता। अतः ब्रह्म के अंशाशिभाव को जीव माना जाता है। अतः निम्वार्क मत में जीव की अवस्था को आनन्द की दशा माना है, जहाँ जीव मुक्त होकर सामुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। आचार्य वल्लभ युष्टिमार्ग के संस्थापक है। उन्होंने भक्ति को मोक्ष का साधन कर उसे सेवा रूप कहा है। अतः सेवा भी परमार्थ सिद्धि का द्वार है। वस्तुतः यह मत अत्यन्त लोकोपकारी है। सेवा साधना से मोक्ष मार्ग भूमि पर चलने में बड़ा आनन्द मिलता है। माध्वाचार्य ने भी मोक्ष के लिए भक्ति का सहारा लिया। यह मोक्षावस्था परमात्मा के साथ साक्षात्कार की दशा है, जिसमें जीव के समस्त सांसारिक दुःखों का अन्त हो जाता है। यही नित्य आनन्द की स्थिति है।

वैसे सम्पूर्ण दर्शन प्रायः मोक्षोपलब्धि हेतु अविद्या माया आदि से निवृत्ति पर बल देते हैं। भ्रम, संशय के निवारण पर बल देते हैं। जैनमत भी बन्धन के कारण के रूप को स्वीकार करता है।

अविद्या का भी कारण उनके मत में कर्म होता है कर्म के परमाणुओं का आत्मा की ओर अग्रसर होना आस्रव-बन्धन का कारण है। इसका निरोध नैतिक चर्चा द्वारा ही सम्भव है। इसलिए वे सम्यक् प्रचार पर बल देते हैं। इसकी साधना से ही अविद्या का आवरण विच्छिन्न हो जाता है और दुःखमय अवस्था का उच्छेद हो जाता है। फलतः आत्मा को परम साध्य की अवस्था प्राप्त होती है। जैन मत इसे अर्हत् की दशा मानता है।

बौद्ध दर्शन अनात्मवादी होने के कारण निषेधात्मक अर्थ में निर्वाण को मोक्ष मानता है। उसके अनुसार जीवन कर्म का आधार वासना है जिसका मूल अविद्या है। ज्ञान द्वारा ही इन वासनाओं का शमन करने पर निर्वाण होता है। इस तरह बौद्ध मत भी जैन दर्शन की भाँति नैतिक आचरण अष्टांग साधना को निर्वाण के लिए सहायक मानता है। सम्यक् समाधि प्राप्त होने पर निर्वाण मिलता है। जहाँ सभी वासनाओं का अन्त हो जाता है। बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय परिनिर्वाण की व्याख्या के द्वारा जीवन काल में भी निर्वाण को सार्थक मानते हैं।

आधुनिक भारतीय दर्शन के अभ्युदय के पहले ही भारत में भक्तिकालीन आन्दोलनों ने भारतीय अध्यात्मवाद में नया मोड़ देने का प्रयास किया था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के कारण भारतीय संस्कृति व योरोपीय संस्कृति के साथ मेल-मिलाप वैज्ञानिक विचारधारा का विकास आदि अनेक सन्दर्भों में आधुनिक भारतीय चिन्तकों ने महनीय दिशा दी है। समाज सुधार, धर्मसुधार को धार्मिक आन्दोलनों ने अपना लक्ष्य बनाया तथा अनेक चिन्तकों ने भारतीय दर्शन की मान्यताओं की पुनर्व्याख्या कर उसे नया जीवन दान देने का अथक प्रयास किया है।

स्वामी विवेकानन्द का आधुनिक भारतीय दर्शन में महनीय योगदान है। इनका दर्शन अध्यात्म चिन्तन की दृष्टि से अत्यन्त प्रेरणास्पद है तथा सामाजिक मूल्यों को व्यवस्थित करने तथा समाज के नव निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मोक्ष के विषय में उन्होनें स्वीकार किया कि आत्मा को अपने बन्धन के प्रति जाग्रत होने एवं उठने व स्वयं का अधिकार माँगने का प्रयत्न जीवन कहा जाता है। जीवन-क्रम में मानव स्वयं को ऊपर उठाना चाहता है। वह विजय या अमरता की कामना करता है। जन्म ही बन्धन है जिसे दुःख उठाना पड़ता है। आत्मा व देह का सम्बन्ध भी अज्ञान के कारण होता है। अतः अमरता अथवा ऊपर उठने का अर्थ होगा सभी तरह से उठना। जब समस्त दासता नष्ट हो जाती है तब मुक्ति निर्वाण व स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। स्वामी जी ने अनन्त आनन्द को मुक्ति की संज्ञा दी है। इन्होंने वेदान्त दर्शन को भी सन्तुलित करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जीवन मुक्ति की दशा को मानव के लिए अधिक आकर्षक सिद्ध किया है। वे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग व राजयोग के समन्वय के द्वारा यह कहना चाहते हैं कि मानव का अभ्युदय ही उसके जीवन का लक्ष्य है। यह अभ्युदय भौतिक व आध्यात्मिक दोनों रूपों में होना चाहिए। सम्भवतः स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति निर्माण के द्वारा मानव के बाह्य जीवन को सुसंगठित कर मानवता की सच्ची सेवा द्वारा परम नैतिक मूल्यों के प्रति गति प्राप्त करने में विश्वास व्यक्त किया है।

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार आत्मा का अतिक्रमण ही मोक्ष है। वे मानव की अनन्त सम्भावनाओं में मोक्ष को मानते हैं। इनके अनुसार मोक्ष की अवस्था आध्यात्मिक अभ्युदय व स्वतन्त्रता की प्राप्ति है।

इनके विचारों की विशेषता यह है कि ये इस आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया के अन्त में ही मानते हैं। वे मानते हैं कि जब तक इस पृथ्वी पर एक भी व्यक्ति दुःखी है बन्धन ग्रस्त है, मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है। वे सर्वमुक्ति की अवधारणा से मोक्ष के विषय में नवीन योगदान करते हैं। सम्पूर्ण मानवता को अज्ञान से मुक्ति दिलाना ही इनके मत में मोक्ष है।

अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समस्त भारतीय दर्शन मानव को निश्चित तौर पर उसके परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति को उपलब्ध कराने पर जोर देते हैं। दुःख, भव बन्धन, अविद्या से निवृत्ति का माध्यम दर्शन शास्त्र ही है अन्य कोई शास्त्र नहीं।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अष्टपाहुड़ कुन्द कुन्दाचार्य- सम्पादक- पन्नालाल जैन, राव जी छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, चोरिया गुजरात १९७४

२. अद्वैतवाद और शून्यवाद मञ्जू- ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली भारत १९८६

३. अभिधर्मकोश वसुबन्धु- आचार्य नरेप्द्र, हिन्दुस्तानी, अकादमी इलाहाबाद १९५८

४. ईशा वास्योपनिषद् शांकर भाष्य- गीताप्रेस, गोरखपुर १९८२

५. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक- रामानन्द तिवारी राजस्थान ग्रन्थ अकादमी सर्वेक्षण।

६. ऐतरेयोपनिषद् शांकरभाष्य- गीताप्रेस गोरखपुर, १९८२

७. कठोपनिषद् शांकरभाष्य- गीताप्रेस गोरखपुर, १९८२

८. केनोपनिषद् शांकरभाष्य- गीताप्रेस गोरखपुर, १९८२

९. खण्डन खण्डखाद्य- श्री हर्ष अच्युत ग्रन्थ माला वाराणसी १९६४

१०. गीता भाष्य- रामानुजाचार्य, कल्याण बम्बई, १९५७

११. चार्वाक दर्शन- डॉ. आनन्द हिन्दी समिति लखनऊ १९७२

१२. चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा - पद्माचार्य चौख. विद्यालय वाराणसी १९६०

१३. छान्दोग्यउपनिषद् शांकरभाष्य- गीताप्रेस गोरखपुर, १९८२

१४. जैन दर्शन- महेन्द्र कुमार वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी १९५५

१५. तत्त्वार्थसूत्र उमास्वाति- श्री मोहनलाल, दीपचन्द्र चौकसी बम्बई १९४२

१६. तत्त्व प्रदीपिका- चित्सुखाचार्य षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान वाराणसी १६७४
१७. तत्त्व वैशारदी- वैशारदी वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा सं० सी. वाराणसी १६३३
१८. तर्कभाषा- केशव मिश्र, चौखम्भा सं० संस्थान वाराणसी १६७६
१६. तत्त्वार्थदीप निबन्ध- वल्लभाचार्य, श्री केदारनाथ मिश्रकृत व्याख्या भारतीय विद्या भवन, वाराणसी- १६८४
२०. तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य- गीता प्रेस, गोरखपुर १६८२
२१. धर्म सिन्धु- काशीनाथ उपाध्याय, चौखम्भा सं० सीरीज वाराणसी १६६४
२२. निम्बार्क भाष्य- देवत्य स्मृति आनन्दाश्रम सं० सीरीज पूना १६४१
२३. न्यायावतार- आचार्य सिद्धसेन श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल जैनेन्द्र प्रेस, ललितपुर (उ.प्र.) १६७६
२४. न्यायवार्तिक- उद्योतकर, कलकत्ता १६३६
२५. न्यायदर्शन गौतम- कलकत्ता १६३६
२६. न्यायदर्शन- वात्स्यायन भाष्य, चौ. सं० सीरीज बनारस १६२५
२७. न्यायमञ्जरी जयन्त- लाजरस एण्ड को० बनारस १८६५
२८. न्यायबिन्दु- धर्मकीर्ति, चौ० सं० सीरीज बराणसी १६६४
२६. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका- वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा सं० सीरीज काशी १६२५
३०. पातञ्जल योगदर्शन- स्वामी हरिहरानन्द, व्यासभाष्य डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १६८०

३१. प्रशस्तपाद्भाष्य- प्रशस्तपाद्, संस्कृत विश्व वि. बाराणसी १९९३

३२. पंचदशी मुनि विद्यारण्य- गोयल एण्ड कं० बडा दरिवा दिल्ली १९५५

३३. प्राच्यधर्म और पाश्चात्य- बिहार एस. राधाकृष्णन्, राज्यपाल एण्ड सन्स दिल्ली १९७२

३४. पञ्चासिकाय कुन्द- कुन्दाचार्य, रामचन्द्र जैन, ग्रन्थमाला बम्बई १९०८

३५. पाश्चात्यदर्शन, चन्द्रधर शर्मा- नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स वाराणसी १९७१

३६. बौद्ध धर्म दर्शन- आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना १९५६

३७. बौद्ध दर्शन मीमांसा- आचार्य बलदेव उपाध्याय चौखम्भा विद्याभवन चौक बाराणसी १९५४

३८. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास- पं. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय घनश्याम भार्गव लखनऊ

३९. वृहती- प्रभाकर मिश्र चौखम्भा सं० सीरीज वाराणसी-१९३०

४०. ब्रहमसिद्धि- मिश्रमण्डल सं० एस कुलू स्वामी शास्त्री मद्रास १९३७

४१. बोधचर्यावतार- शान्तिदेव बुद्ध बिहार लखनऊ १९५५

४२. ब्रहमसूत्र शांकर भाष्य- शंकराचार्य श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती गोविन्द मठ टेडीखीस वाराणसी १९९८

४३. वृहदारण्य कोपनिषद्- शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर १९८२

४४. भारतीय दर्शन- चट्टोपाध्याय एवं दत्त पुस्तक भण्डार पटना १९६७

४५. भारतीय दर्शन- आचार्य बलदेव पाध्याय चौखम्भा ओरियन्टाला विश्व भारती चौक वाराणसी- १९७९

४६. भारतीय दर्शन- नन्दकिशोर उ०प्र० हिन्दी संस्थान महात्मा गांधी रोड लखनऊ १९७८

४७. भामती- बाचस्पति मिश्र निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३८

४८. भारतीय दर्शन- उमेश मिश्र, हिन्दी संस्थान महात्मा गांधी रोड लखनऊ १९६९

४९. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन- अशोक कुमार लॉड म०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी मालवीय नगर, भोपाल १९७३

५०. भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा- डॉ. किशोरदास स्वामी महालक्ष्मी क्लास वर्क्स बम्बई १९८०

५१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा- एम. हिरियन्ना राजकमल प्रकाशन दिल्ली १९६४

५२. भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा- राममूर्ति शर्मा मणिद्वीप दिल्ली ५२

५३. भारतीय दर्शन- जयदेववेदालंकार न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन नई दिल्ली

५४. मीमांसा श्लोक वार्तिक कुमारिल भट्ट- चौखम्भा सं० सीरीज वाराणसी १८९८

५५. मीमांसा दर्शन- श्रीराम शर्मा, श्री नन्दाश्रम, सं० ग्रन्थावली बरेली १९६६

५६. मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य- गीता प्रेस, गोरखपुर १६८२
५७. याज्ञवल्क्य स्मृति- टोडरमल, निर्णय सागर, प्रेस बम्बई
५८. यजुर्वेद- श्री राम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली
५६. योग वार्तिक- विज्ञान भिक्षु, चौखम्भा सं० सीरीज वाराणसी १६५३
६०. योग सूत्र- पातञ्जलि, गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेयरी
६१. वेदान्तसार- सदानन्द, साहित्य भण्डार मेरठ १६६४
६२. वैशेषिक दर्शन- श्री नारायण मिश्र चौ.वि.भवन वाराणसी
६३. विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि- वसुबन्धु सम्पादक डॉ. महेश तिवारी चौ. वि. वाराणसी १६६७
६४. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति- वलदेव उपाध्याय शारदा मन्दिर वाराणसी १६७१
६५. वैशेषिक साहित्य- डॉ. हरिमोहन पुस्तक भण्डार, पटना
६६. वेदान्त परिभाषा- धर्मराज ध्वरिन्द्र ज्ञान सत्र प्रकाशन मन्दिर नर्मदापुर मुण्डक गीता धर्म प्रेस मिश्र, पोखरा वारा- १६६७
६७. वेदान्त दर्शन- पालडायन, अनुवादक संगललाल पाण्डेय
६८. समय सार- कुन्द कुन्दाचार्य परम श्रुत प्रभावक मण्डल चोरिया गुजरात १६७४
६६. समण सुत्तं- पं. वेचन दास जी, अनुवादक पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री मुनि नथमल जी सर्व संघ प्रकाशन राज घाट वाराणसी १६७५
७०. सांख्य तत्त्व कौमुदी- आद्याप्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन इलाहाबाद १६६२

७१. समकालीन दार्शनिक चिन्तन- हृदय नारायण मिश्र, किताब घर आचार्य नगर कानपुर १९६६

७२. सर्वदर्शन संग्रह माधवाचार्य- डॉ. उमाशंकर शर्मा ऋषि चौखम्भा वि. वाराणसी।

७३. सांख्यदर्शन का इतिहास- उदवीर शास्त्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती गाजियाबाद १९६२

७४. समकालीन दर्शन- ए.के. सिन्हा चण्डीगढ़ हरियाणा साहित्य अकादमी

७५. संयुक्त निकाय।

७६. सांख्यकारिका।

७७. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र- वलदेव उपाध्याय वाराणसेन सं० वि० वाराणसी

७८. शंकराचार्य और उनका मायावाद- राममूर्ति शर्मा, साहित्य भण्डार मेरठ १९७५

७९. श्वेताश्वेतरोपनिषद् शांकरभाष्य- गीता प्रेस, गोरखपुर १९८२

८०. शाबर भाष्य- स्वामी शबर भद्रपुर विश्व वि. १९३४

८१. षड्दर्शन समुच्चय- आचार्य हरिभद्रसूरि, भारतीय ज्ञान पीठ काशी १९७८

८२. ज्ञान योग- स्वामी विवेकानन्द अद्वैत आश्रम मायावती अल्मोड़ा १९३९

८३. श्रीमद्भागवत गीता- एम. हिरियन्ना गीता प्रेस गोरखपुर १९८७

शब्दकोश- संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्ट मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी १९६६, वृहत् संस्कृत हिन्दी कोश, डॉ. धर्मेन्द्र कमार गुप्त, संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, रामचन्द्र शर्मा, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी १९७१, मानक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग